



[सा]मयिक साहित्य-माला का सातवाँ पुष्प । सम्पादक—श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

जीवन के सपने

(कहानी-संग्रह)

लेखक—
श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह

प्रकाशक—
सामयिक साहित्य-सदन (रजिस्टर्ड)
चेम्बरलेन रोड, लाहौर

प्रकाशक—
श्री उमाशङ्कर त्रिवेदी, एम० ए०
व्यवस्थापक—
सामयिक साहित्य-सदन,
चेम्बरलेन रोड, लाहौर।

मूल्य २)
प्रथम संस्करण। मार्च १९४४

मुद्रक—
देवीप्रसाद शुक्ल
शुक्ला-राजपूत प्रेस, हस्पताल रोड,
लाहौर

सूची

जीवन के सपने

सिंहासन

पेन्सिल कागज़ पर धीरे-धीरे चल रही थी। खाका बन रहा था। आकाश में उमड़ते हुए बादल और बादलों के बीच एक सिंहासन।

"वाह!"

सावित्री चौंक पड़ी। पेन्सिल रुक गई।

"यह हो रही है पढ़ाई!" हँसते-हँसते विमला ने कहा।

सावित्री मुस्कराई।

"किसे बैठाओगी सिंहासन पर?"

"किसी को नहीं।"

"तो खाली ही रहेगा यह! अच्छा लगेगा सूना-सूना?"

"सूनापन मुझे बुरा नहीं लगता।"

"कैसी विचित्र हो तुम! सारी दुनिया को जो चीज़ बुरी लगती है, वह तुम्हें बुरी नहीं लगती। नहीं, सखी, यह ठीक नहीं। जब सिंहासन बना है, तो किसी न किसी को इस पर बैठाना भी ज़रूरी है। किसी को बैठाओ इस पर।"

"देखा जायगा। अच्छा, विमला, यह बतलाओ कि कल तुम कहाँ रहीं? घण्टों तुम्हारा इन्तज़ार करती रही। इम्तहान सिर पर खड़ा है और तुम ऐसी बेपरवाही दिखा रही हो।"

"कल बाबूजी के एक मित्र के घर चली गई थी। बड़ा मज़ा रहा। बड़ी शानदार बारात थी। आतिशबाज़ी, फुलवारी, पाँच तरह के बाजे, सैकड़ों बाराती, गोरा-गोरा सुन्दर-सा दूल्हा! और दुल्हिन कैसी थी, जानती हो?',

"मैं क्या जानूँ!"

"बिलकुल काली, कुरूपा! सूरत न शकल, और शान ऐसी कि कुछ न पूछो। उससे बात करने की मैंने बड़ी कोशिश की, बहुतेरे प्रश्न किये; लेकिन पट्ठी ने एक शब्द भी मुख से नहीं निकाला। बस, चुपचाप सिर झुकाये बैठी रही। उस समय उस कमरे में मेरे और उसके सिवाय कोई था भी नहीं।"

सावित्री चुपचाप सुनती रही।

"क्यों, सावित्री, एक दिन तुम भी तो दुल्हिन बनी थीं। उस समय कैसा लग रहा था तुम्हें?"

उत्तर नहीं दे सकी सावित्री। "शानदार बारात, फुलवारी, आतिशबाजी तरह-तरह के बाजे, सैकड़ों बाराती...और सुन्दर, सजीला दूल्हा! और···सुन्दर, सजीली दुल्हिन···और···!"

स्मृतियों का एक झोंका, भावों की आँधी, विचारों का तूफ़ान! "ओह! बन्द दरवाज़े को इस तरह धक्का देकर खोलकर अच्छा नहीं किया, विमला।"

"कैसा लग रहा था उस समय? बोलो, सावित्री।"

चुप रही सावित्री।

"बड़ा अच्छा लग रहा था ? बड़ी खुशी मालूम पड़ रही थी ?"

"जाने दो उस बात को" जैसे भावनाओं को ठेलकर, साँस रोक कर सावित्री ने कहा ।

"क्यों ?"

"यों ही ।"

"दुख लगता है ?"

"हाँ ।" इस में छुटकारा था ।

गम्भीर हो उठी विमला । इच्छा थी एकमात्र कौतूहल की तृप्ति की, रस की प्राप्ति की । अनायास ही चोट पहुँच गई सखी के हृदय को ।

"भूल-ऊल कुछ नहीं । अच्छा, आओ, अब पढ़ें ।"

और उस ओर पड़ी हुई इतिहास की पुस्तक उठाकर, तख़्त पर पेट के बल लेटकर, सावित्री ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने लगी । इस तरह बदहवासी से पढ़ने से कहीं पाठ याद हो सकता है; शोर करने से कहीं उत्तेजित मन शान्त हो सकता है ? फिर भी अच्छा ही है भुलावा । घुटनों को हाथों से बाँधे हुए विमला देख रही है सावित्री के चेहरे की ओर, और कुरेद रही है भावों के पर्तों को । कुछ सुनाई नहीं दे रहा है । कुछ सुन सकने की मनोस्थिति में वह नहीं है और सावित्री पढ़ती जा रही है ज़ोर-ज़ोर से, तेज़ी से । यह भी कोई पढ़ाई है ? नासमझ नहीं है विमला । सतर्क वह नहीं रहती । लेकिन जब सतर्क हो जाती है, तो सब कुछ अच्छी तरह समझ लेती है ।

आध घंटे तक सावित्री उसी तरह पढ़ती रही, फिर एकाएक रुककर ज़ोर से हँस पड़ी । पीड़ा रो पड़ी उस हास में ।

"क्या समझा तुमने ?"

"सिर्फ़ इतना कि इस समय पढ़ाई नहीं हो सकती।" गंभीर भाव से विमला ने उत्तर दिया।

"और यह सब जो मैंने पढ़ा ?"

"वह सब मैं सुन न सकी।"

"ठीक है, विमला," दीर्घ निःश्वास खींच कर सावित्री ने कहा—"इस समय पढ़ाई नहीं हो सकती।"

विमला उठ कर जाने लगी। सावित्री ने रोका नहीं।

"सिंहासन पर किसी को बैठाना ही होगा, सावित्री," दरवाज़े पर रुक कर विमला ने कहा और वह चली गई।

किसी को बैठाना ही होगा सिंहासन पर ? नहीं, यह न होगा, पगली है विमला।

कहते हैं कि विधाता महोदय मनुष्य की रचना करते समय उसके मस्तक पर भाग्य की जो रेखाएँ अंकित कर देते हैं, उन्हें बाद में वह भी मिटा नहीं सकते। उन्हीं रेखाओं के अनुसार मनुष्य का जीवन-क्रम चलता जाता है। रेखाएँ आत्म-समर्पण चाहती हैं, मनुष्य उन्हें मिटा देना चाहता है। शायद मानव-जीवन की सार्थकता भी इसी में है कि विद्रोह जारी ही रहे।

हैरान है सावित्री। वह विद्रोह से बचना चाहती है, लेकिन बच नहीं पाती। विद्रोह की जड़ें मन की गहराइयों में दूर तक फैली हुई हैं। उन्हें उखाड़ फेंकना संभव नहीं। हैरान है सावित्री, हैरान है।

जिनके जीवन में आरम्भ-काल ही से दुर्भाग्य की काली घटाएँ घिर आई हों और बराबर बढ़ती ही जा रही हों, वह क्यों देखे

सुख के स्वप्न ? सावित्री नहीं देखना चाहती सुख के सपने। लेकिन सपने हैं कि उठे बिना नहीं रहते, और जब उठते हैं तो सब कुछ भूल कर सावित्री खो जाती है उन्हीं में। सुख के सपने, मिथ्या, निरर्थक सपने ! भाग्य का परिहास, मन का विकार।

एकमात्र माँ को छोड़कर सावित्री का कोई नहीं है दुनिया में। छः वर्ष ही की तो थी जब पिताजी चल बसे। जीवन-बीमा के पाँच हज़ार रुपये और एक छोटा सा घर, बस इतना ही अपनी विधवा और बच्ची के लिए छोड़ गये। बेटी का मुख देखकर जीती रहीं माँ। बुद्धिमान् थीं, परिस्थिति के अनुकूल चलने लगा उनका जीवन-क्रम। पति के देहान्त के कुछ समय बाद वह एक पाठ-शाला में भरती हो गईं। तीन वर्ष तक पढ़ कर लोअर मिडिल पास किया, फिर अध्यापिका बन गईं। सावित्री के पालन-पोषण में, शिक्षा-दीक्षा में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी। फिर उपयुक्त समय आने पर सुयोग्य वर खोज कर उन्होंने धूम-धाम से उसका विवाह किया। लेकिन जिसके भाग्य में सुख का दर्शन मात्र ही बदा हो, उसका सुख टिका कैसे रह सकता है ? उजड़ गया उसका खुशी का चमन। विवाह के साल भर बाद ही सावित्री का सुहाग लुट गया। तब वह फिर आ गई माँ के पास। उसके प्रति माँ का वात्सल्य दुगना हो गया। उसके सिवाय उनका और था ही कौन ? और फिर मातृ-वात्सल्य सन्तान के सुख के समय जितना प्रकट होता है, उससे कहीं अधिक उसके दुख के समय प्रकट होता है। इस तरह माँ के ऊपर भार बन कर रहना सावित्री को अच्छा नहीं लग रहा था। उसने नौकरी कर लेने की इच्छा प्रकट की। माँ ने कहा—"मैं जितना कमा लेती हूँ, उतना हम दोनों के लिए काफ़ी है। अभी नौकरी करने की ज़रूरत नहीं

है। आत्म-निर्भर बनना बड़ी अच्छी बात है, और मैं खुद भी चाहती हूँ कि तुम आत्म-निर्भर बन जाओ। लेकिन जल्दबाज़ी से काम ठीक नहीं होता। इससे मेरी बदनामी भी हो सकती है। अपर मिडिल कर ही चुकी हो। एण्ट्रेंस पास कर लो, तब नौकरी करना।" सावित्री ने मान ली माँ की बात।

पड़ोस में जो वकील साहब रहते हैं, उन्हीं की पुत्री है विमला। सावित्री से उसकी खूब बनती है। दोनों समवयस्क हैं, दोनों एण्ट्रेंस की तैयारी कर रही हैं, दोनों की स्थितियों में अन्तर भी है। विमला अमीर की लड़की है; सावित्री की आर्थिक स्थिति साधारण है। लेकिन विमला में अमीरी की बू नहीं है। सावित्री को उसके साथ समय व्यतीत करने में, उससे बात-चीत करने में बड़ा मज़ा आता है। प्रायः नित्य वह उसके साथ पढ़ने आती है और समझती है कि उसके साथ पढ़कर वह परीक्षा में अवश्य उत्तीर्ण हो जावेगी। विमला कालेज में पढ़ रही है, सावित्री प्राइवेट तौर पर इम्तहान देगी।

सावित्री ने विमला को रोका नहीं। जी नहीं चाहा रोकने को। उस समय एकान्त की आवश्यकता थी। एकान्त में मनोभावों पर नियन्त्रण रखने की ज़रूरत नहीं होती।

हथेली पर ठुड्डी धरे, पेट के बल तख़त पर पड़ी हुई है सावित्री। आँखें खिड़की के उस पार देख रही हैं। सफ़ेद बादल का एक बड़ा-सा टुकड़ा आकाश में तैरता चला जा रहा है। कभी वह हाथी बन जाता है, कभी घड़ियाल, कभी जाने क्या। उधर बगुलों की एक पंक्ति टेढ़ी होती, सीधी होती चली जा रही है। और वह एक पतंग है, शायद चाँद-तारा है। आकाश में उतने ऊपर पहुँच कर बिलकुल

नन्हीं-सी लग रही है वह। सावित्री की आँखें लगी हुई हैं इन चीज़ों की ओर, लेकिन वे देख रही हैं और ही कुछ।

आतिशबाज़ी, फुलवारी, तरह-तरह के बाजे, सैकड़ों बाराती, सजी-सजाई पालकी में सुन्दर, सजीला दूल्हा। और वह रँगीली रात। सुसज्जित कमरा, रङ्गीन प्रकाश, फूलों से सजी हुई सुन्दर सेज, सेज के समीप फ़र्श पर सिकुड़ी-सिकुड़ाई बैठी हुई सुन्दर, सजीली दुलहिन। बन्द दरवाज़े का धीरे से खुलना, किसी का अन्दर आना, दरवाज़े का ज़ोर से बन्द होना, स्त्रियों की सुरीली हँसी, फिर किसी का समीप आना और ज़बरदस्ती घूँघट खोलना, और फिर'''और फिर'''। रोमांच उत्पन्न कर देने वाली रस-रङ्ग की वे बातें!

सिहर उठी, रोमांचित हो उठी सावित्री।

वह वर्ष, असीम सुख, अपरिमित आनन्द, अतुलनीय आह्लाद से भरा हुआ वर्ष। नवीन जीवन-क्रम, नवीन भावनाएँ, नवीन अनुभूतियाँ। पति का अद्भुत प्यार, सास-ससुर का पावन स्नेह, नातेदारों का सराहनीय मान-आदर। कोई अभाव नहीं, कोई खटक नहीं।

दीर्घ निःश्वास निकल गया सावित्री के होठों से।

वज्रपात। जून की वह मनहूस सन्ध्या। हैज़े का आक्रमण। वह जो उसके शरीर का स्वामी था, उसका वह सुन्दर, सजीला दूल्हा तीन घंटे तक अगाध यन्त्रणा भोगने के बाद, रोग-शय्या पर बेसुध पड़ा था। जीवन-दीपक अति मन्द हो गया था। एकाएक लौ भड़की और बुझ गई। छा गया चारों ओर गहन अंधकार। छा गया सावित्री के जीवन में निबिड़ अंधकार। सगे-सम्बन्धियों का वह हाहाकार! दुर्भाग्य का वह अट्टहास!

झर-झर गिरने लगे आँसू सावित्री की आँखों से।

और वैधव्य के ये दो वर्ष। नवीन भावनाएँ, नवीन अनुभूतियाँ नवीन प्रवृत्तियाँ! उमंगें उठतीं, आशाएँ पर निकालतीं, मन सुन्दर सपने देखता। लेकिन उसे आत्म-नियन्त्रण का जो अस्त्र मिल गया था उससे काम लेने से वह बाज़ न आती। मन के विद्रोह में वह योग नहीं देना चाहती। भाग्य की रेखाएँ आत्म-समर्पण चाहती हैं। स्वीकार है उसे उनकी वह व्यवस्था।

और यह सिंहासन? खाली है सिंहासन। किसी को बैठाना ही होगा इस पर। कौन बैठेगा इस पर? कोई नहीं। कोई नहीं?

रात बैचैनी से कटी। सवेरे ही विमला आ पहुँची। आते ही उसने कहा—"किसी को बैठा लो सिंहासन पर।"

"नहीं।"

"अड़ी हो अपनी ज़िद पर?"

"ज़िद?"

विमला चुप रही कई क्षण तक।

"मेरा एक अनुरोध मानो, सावित्री, एकाएक उसने कहा। "तुम फिर विवाह कर लो। तुम्हारे रोग का यही इलाज है।"

"मुझे ऐसी बात अच्छी नहीं लगती।"

"मैं जानती थी कि तुम बिगड़ोगी, खफ़ा होगी, लेकिन मैं तैयार होकर आई थी। तुम कुछ कहो, कुछ करो, मैं तो हज़ार बार कहूँगी विवाह कर लो, विवाह कर लो, विवाह कर लो...।"

"बड़ी पगली हो विमला! जिसके भाग्य में सुख नहीं, उसे जबरदस्ती सुख दिलाना चाहती हो! ऐसा असम्भव प्रयास कोई करता है? भारी मूर्खता है यह।"

"मूर्खता ही सही। मैं करती ही जाऊँगी यह मूर्खता।"

ज़ोर से हँस पड़ी सावित्री।

(२)

एक दिन पाठशाला से लौट कर माँ ने कहा:—"कौशल का ख़त है, बिटिया।"

"क्या लिखा है ?"

"लो देखो।"

माँ के हाथ से पत्र लेकर पढ़ने लगी सावित्री।

"पूज्यनीया बुआ जी,

प्रणाम ?

बहुत दिनों से आपको पत्र नहीं लिखा। माफ़ी चाहता हूँ।

प्रमोद मेरा एक मित्र है। बड़ा सुशील और सीधा-सादा है, और स्वजातीय भी है। लम्बी बीमारी से उठा है। डाक्टरों ने जल-वायु परिवर्त्तन की सलाह दी है। इसलिये उसे आपके पास भेज रहा हूँ कृपया उसे अपने यहाँ स्थान दीजिएगा और उसकी समुचित देख-रेख कीजिएगा। वहाँ उसके एक रिश्तेदार भी हैं, किसी होटल में भी वह ठहर सकता है; लेकिन मेरा ख्याल है, आपके यहाँ उसे जितना आराम मिलेगा, उतना कहीं न मिल सकेगा।

मैं जानता हूँ कि आपकी आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं है और अपने मित्र का भार आपके ऊपर डालना किसी तरह उचित नहीं। इसलिए ५०) रुपये मनीआर्डर से भेज रहा हूँ। ले लीजिएगा, लौटाइयेगा नहीं।

हम सब मज़े में हैं। आशा है कि आप और सावित्री भी सकुशल होंगे।

आपका आज्ञाकारी,

"कौशल"

"पढ़ लिया ?"

"हाँ !" पत्र बन्द करते हुये सावित्री ने उत्तर दिया।

"रुपये भेजने की बात ठीक नहीं रही। क्या हम ऐसी गई-गुज़री हैं कि एक नज़दीकी रिश्तेदार के मित्र को कुछ दिनों तक अपने यहाँ ठहराने के लिये रुपया लें ! सोचती हूँ कि मनीआर्डर आये तो लौटा दूँ।"

"नहीं, अम्मा, यह ठीक न होगा। लेलो। न लोगी, तो कौशल दादा को दुख होगा।

"ख़ैर, जैसी तुम्हारी राय हो।"

पत्र हाथ में लिये हुए सावित्री नाश्ता निकालने चली गई। माँ कपड़े बदलने लगीं।

नाश्ता हुआ। महरी बरतन मलने आ गई। माँ उससे बात करने लगीं। सावित्री अपने कमरे में चली आई।

तो एक नया बखेड़ा शुरू होने जा रहा है। कौशल दादा के कोई मित्र महोदय आ रहे हैं। सुशील हैं, सीधे-सादे हैं, लम्बी बीमारी से उठे हैं। बस, इतना ही तो लिखा है पत्र में। और क्या-क्या हैं, कैसे हैं ? होंगे कोई। चाहे जो हों, जैसे हों, उसे क्या करना है ? लेकिन यह सोच लेने ही से क्या छुटकारा मिल जायगा ? घर में एक अजनबी आकर रहेगा। कौशल दादा का मित्र सही, लेकिन यहाँ के लिए तो वह अजनबी ही होगा। उसकी उपस्थिति से असुविधाएँ अवश्य होंगी। सुशील है, सीधा-सादा है। अजनबी की उपस्थिति से असुविधाएँ तो होती ही हैं, वह कैसा भी हो। नाम क्या है ? प्रमोद ! विनोद के वज़न पर प्रमोद। प्रमोद का अर्थ है आनन्द। तो क्या ये महाशय जहाँ कहीं जाते हैं, आनन्द

के सन्देशवाहक बनकर जाते हैं? कैसे पागलपन की बात है! मन का विकार, कल्पना की निरर्थक उड़ान। कौशल दादा को बड़ा ख़्याल है अपने मित्र का। उन्हें यहाँ भेज रहे हैं, देख-रेख की ताक़ीद भी की है। कौन करेगा अतिथि का सेवा-सत्कार? माँ करेंगी और कौन करेगा! लेकिन माँ तो दिन भर पाठशाला में रहती हैं, सुबह-शाम भी उन्हें काफ़ी काम रहता है। तब? उसी के ऊपर पड़ेगा यह भार। नहीं, उससे यह काम न हो सकेगा। संकोच होगा, लाज लगेगी। अच्छी आफ़त है, खैर, देखा जायगा। वह क्यों सोच रही है यह सब? नहीं सोचना चाहिए यह सब। किसी मर्द की बात उसे नहीं सोचनी चाहिए। लेकिन···

तीन दिन से विमला को हलका ज्वर हो आता है। माँ से पूछ कर उसे देखने के लिये सावित्री उसके घर गई।

विमला बिस्तर पर पड़ी हुई एक पत्रिका देख रही थी। सावित्री को देख कर वह उठने लगी।

"लेटी रहो, उठो नहीं!"

"लेटे-लेटे जी ऊब गया," बैठकर विमला ने कहा—"आओ बैठो।"

सावित्री बैठ गई उसके समीप।

"तबीयत कैसी है?"

"आज तो बुख़ार नहीं आया।"

"बड़ा अच्छा हुआ। मैं तो डर रही थी कि कहीं जम न जाय और इतने दिनों की पढ़ाई चौपट न हो जाय।"

"यह डर तो मुझे भी था। आओ पढ़ें।"

"नहीं, आज रहने दो। कल तक बुख़ार आया था। कमज़ोरी

आ गई होगी। दो-एक रोज़ आराम कर लो।"

"जैसा कहो।"

ज़रा देर तक दोनों मौन रहीं।

"मुस्करा क्यों रही हो, सावित्री? क्या बात है?"

"कुछ तो नहीं। मुस्करा कहाँ रही हूँ।"

"बनो मत।"

"वहम हो रहा है तुम्हें।"

"मैं नहीं मान सकती। ज़रूर कोई नई और अच्छी बात हुई है। चेहरे पर मुस्कराहट है, जोश से भरी-सी मालूम पड़ती हो।"

नई बात! कौन-सी नई बात हुई है? बस, वह पत्र ही तो आया है। लेकिन उसे उस पत्र से क्या प्रयोजन है? बतला देनी चाहिए उस पत्र की बात! नहीं, अब तो वह बात नहीं बतलाई जा सकती।

"जोश-ओश तो मुझे कुछ नहीं मालूम पड़ रहा है। लेकिन अगर सच-मुच तुम्हें मेरे चेहरे पर मुस्कराहट दिखाई दे रही है, तो सम्भव है कि इसका कारण यह हो कि अभी तुम्हारे मुख से मैंने तुम्हारा अच्छा हाल सुना है।

"मेरा हाल सुनने से पहले भी तुम्हारा यही हाल था।"

"ख़ैर, जाने दो, बाबा! होगा कुछ। तुम तो जो बात छेड़ती हो उससे चिपट जाती हो।"

हँस पड़ी विमला।

"अच्छा अब यह बतलाओ, सावित्री, कि क्या तय किया?"

"किसके बारे में?"

"उसी बात के बारे में जिसका ज़िक्र उस रोज़ हुआ था।"

"फिर वही बात? बस भूत तुम्हारे सिर से नहीं उतरेगा!"

"सच कहती हूँ बहिन, जब कभी तुम्हें देखती हूँ तो लगता है कि तुम अपने साथ बहुत बड़ा अन्याय कर रही हो।"

सावित्री गम्भीर भाव से फ़र्श की ओर ताकने लगी।

दो दिन बीत गये।

मध्याह्न आ गया है। माँ पाठशाला गई हुई हैं। सावित्री घर में अकेली है। एकान्त अब उसे बुरा नहीं लगता। अभ्यस्त हो गई है। लिखने-पढ़ने में, सीने-पिरोने में समय बड़े मज़े में कट जाता है। बेकार बैठना अच्छा नहीं लगता, बराबर काम में लगी रहती है। इस समय भी काम में लगी हुई है। अपने कमरे में तख़्त पर बैठी हुई माँ के लिये पुलोवर बुन रही है। माँ के लिये कुछ करने में बड़ा मज़ा आता है। माँ मना करती हैं, लेकिन ऐसी बातों में अपने मन के आग्रह को वह अधिक महत्व देती है। माँ का मना करना भी ठीक है, उसका आग्रह भी ठीक है। दोनों क्रियाओं में जो भावनाएँ हैं वे भी क़द्र करने के योग्य हैं। सलाइयाँ तेज़ी से चल रही हैं, ऊन के धागे तेज़ी से गुँथ रहे हैं। सावित्री बड़े सुन्दर डिज़ाइनों के पुलोवर बुनना जानती है और कई रंग के धागे इस्तेमाल करती है। यह एक नया डिज़ाइन है। इसकी कल्पना उसने स्वयं की थी। माँ यह पुलोवर पहिनकर कितनी ख़ुश होंगी, उसकी कितनी तारीफ़ करेंगी। उसकी तारीफ़ करते वह नहीं थकतीं। ऐसा भी कोई करता है? हो सके तो अपनों की तारीफ़ बिलकुल न की जाय, न हो सके तो बहुत कम की जाय।

खट-खट-खट ? खट-खट-खट ?

कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है ? क्या माँ स्कूल से लौट आई। लेकिन अभी तो सिर्फ़ सवा-बारह बजे हैं, और वह चार बजे से पहले नहीं लौटतीं। क्या बात हुई ?

खट-खट-खट ? खट-खट-खट ?

इस तरह तो माँ ज़ंजीर नहीं खट-खटाती, महरी भी इस तरह नहीं खट-खटाती। विमला भी इस तरह नहीं। तब कौन आया है? उठकर, नीचे जाकर, उसने दरवाज़ा खोला।

एक भद्र, स्वरूपवान युवक सामने खड़ा था। खुलता गेहुआँ रंग, सुन्दर मुखाकृति, लम्बा क़द, शरीर पर बढ़िया सूट। अजनबी था वह। उधर ज़रा दूरी पर एक ताँगा खड़ा था।

"श्रीमती सुमित्रा देवी का घर यही है।"

"जी हाँ।"

"मेरा नाम प्रमोदकुमार है। कौशल भाई ने मुझे भेजा है। उनका ख़त आया होगा।"

"हाँ, आया था उनका ख़त।"

अब क्या कहे प्रमोद ? सावित्री भी ख़ामोश खड़ी रही दो क्षण तक। तब कर्त्तव्य-भाव जाग्रत हुआ।

"अन्दर आइये, दरवाज़े से हटकर सावित्री ने कहा।"

"धन्यवाद ?" यही कहना चाहिये था।? 'अच्छा' कह देने से भी काम चल जाता। ख़ैर।

प्रमोद जाकर ताँगे से असबाब उतरवाने लगा। सावित्री बैठक खोलने लगी। बैठक के दरवाज़े की ज़ंजीर ज़रा सख़्त है, मुश्किल से उतरती है।

सूट-केस और बिस्तर लिये हुए ताँगेवाला अन्दर आया। प्रमोद उसके पीछे था। सावित्री बैठक के अन्दर बिखरी हुई चीज़ें ठीक कर रही थी।

"कहाँ रखूँ ?" ताँगेवाले ने कहा।

प्रमोद चुप रहा। असबाब कहाँ रखा जाय ? बेशक कठिन प्रश्न है। क्या बतलाये वह ?

" जल्दी कीजिये बाबूजी ! बड़ी देर हो रही है। अब तक तो मैं नई सवारी लाद चुका होता।"

तब सावित्री ने हल की समस्या।

"यहाँ ले आओ असबाब," दरवाज़े पर आकर उसने कहा।

असबाब बैठक में रखकर, पैसे लेकर ताँगेवाला चला गया।

अब क्या होना चाहिये ? प्रमोद ने बैठक में प्रवेश किया ?

"माँ घर पर नहीं हैं ।

"अच्छा ! कब तक आयगी ?"

"चार बजे तक।"

प्रमोद चुप रहा एक क्षण।

"आपको बड़ा कष्ट हुआ मेरे कारण।"

सावित्री ने कहना चाहा, 'कष्ट तो कुछ नहीं हुआ।' लेकिन कुछ कह नहीं सकी। दो क्षण रुकी रह कर वह कमरे के बाहर चली गई। प्रमोद एक आराम-कुरसी पर बैठ गया।

कष्ट तो कुछ नहीं हुआ, असुविधा अवश्य हुई। यह भी कोई वक्त है किसी के घर जाने का ? सवेरे आ सकते थे, शाम के वक्त आ सकते थे। लेकिन रेलगाड़ी तो किसी की इच्छानुसार कहीं पहुँचती नहीं। क्या करते ? सहन के उस पार दालान में खड़ी थी सावित्री। आ गये हज़रत ! खुलता गेहुआँ रङ्ग, निर्दोष मुखाकृति, लम्बा क़द, शरीर पर बढ़िया सूट। कौशल दादा के मित्र हैं, और उन्होंने ताक़ीद की है कि इनकी समुचित देख-रेख की जानी चाहिये। लम्बी बीमारी से उठे हैं ! तभी शायद इतने दुबले दिख रहे हैं ! कौन

करे इनका सेवा-सत्कार ? माँ तो घर पर हैं नहीं। आज आने की बात मालूम होती, तो स्कूल न जाती। अच्छी आफ़त है।

वह फिर चली बैठक की ओर सकुचाती हुई। बैठक के दरवाज़े के समीप आड़ में रुक कर वह कई क्षणों तक चुपचाप खड़ी रही। फिर धीरे से आगे बढ़ कर उसने अन्दर झाँका। आराम-कुरसी पर लेटे हुये अतिथि महोदय सिगरेट फूँक रहे थे।

"खाना तैयार किया जाय ?'

"नहीं, तकलीफ़ मत कीजिये। देर हो गई है, इस समय मैं खाना नहीं खाऊँगा। फल खा लूँगा। साथ में ले आया हूँ।

चलो छुट्टी हुई। अपने कमरे में लौट कर वह फिर पुलोवर बुनने लगी। हर बात में 'तकलीफ़, तकलीफ़' ! लेकिन यह न कहें, तो क्या कहें बेचारे ? खाना बना देने में तो कोई तकलीफ़ नहीं होती, परोसने-खिलाने में ज़रूर कुछ परेशानी होती। इतनी शर्म उसे क्यों लगती है ? स्त्री में लज्जा का अभाव बुरा है; लेकिन इतनी लज्जा कि किसी के सामने निकलना, किसी से कुछ कहना कठिन हो जाय, ठीक नहीं होती। ख़ैर, बीमारी से उठे हैं, बेवक्त खाना नहीं खाते। फिर अपना फ़र्ज़ तो अदा ही हो गया। अगर खाने को राज़ी हो जाते, तो खाना भी पक जाता और खिला भी दिया जाता किसी तरह।

एक घंटा बीत गया। उन्हें किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं है। कौशल दादा ने लिखा है कि बड़े सीधे हैं। बेशक बड़े सीधे हैं। चुपचाप बैठे हुये हैं बेचारे। और कोई होता तो अब तक न जाने कितनी फ़रमाइशें कर डालता। चल कर पूछना चाहिए ? फिर वही ज़हमत !

वह फिर बैठक के सामने पहुँची किसी तरह । आराम-कुरसी पर लेटा हुआ प्रमोद कोई पुस्तक पढ़ रहा था। सूट उतार चुका था, धोती और कुरता पहिने था। सावित्री ने धीरे से खाँसा । प्रमोद चौंक कर उठ बैठा ।

"किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं है।"

"थोड़ा-सा पानी चाहिये पीने के लिये।"

सावित्री चली गई। ज़रा देर के बाद जल से भरा हुआ लोटा और शीशे का गिलास लिये हुये उसने कमरे में प्रवेश किया। प्रमोद उठा—लोटा-गिलास उसके हाथों से लेने के लिये, लेकिन खड़ा का खड़ा रह गया। लोटा और गिलास एक खिड़की पर रख कर सावित्री चली गई कमरे से बाहर।

"और कुछ ?" दरवाज़े पर रुक कर उसने पूछा।

"नहीं !; और कुछ नहीं। धन्यवाद !"

"पान ?"

"पान मैं ज़्यादा नहीं खाता। तकलीफ़ मत कीजिये ।"

फिर वही 'तकलीफ़' की रट ! ज़्यादा नही खाते, लेकिन खाते तो हैं।

दस मिनट के बाद पान की तश्तरी हाथ में लिये हुये वह फिर आई कमरे में।

"इसकी क्या ज़रूरत थी ? फ़िज़ूल तकलीफ़ की आपने।"

सावित्री जाने लगी कमरे से बाहर।

"ज़रा रुकिये ।"

रुक गई वह। कई क्षण बीत गये। तब रूमाल में कुछ लिये हुए प्रमोद सामने आ खड़ा हुआ।

"थोड़े से फल हैं; लेती जाइये।"

"नहीं...रहने दीजिये अपने लिये ।"

"मैं बहुत काफ़ी खा चुका हूँ। बच गये हैं।"

"नहीं, नहीं।"

"ले लीजिये।"

अब कितनी बार इनकार किया जाय ? आगे इनकार करने की परेशानी से बचने के लिये उसने ले ली पोटली।

"धन्यवाद !" सामने से हट कर प्रमोद ने कहा।

सावित्री सिर झुकाये हुये बाहर चली गई। यह अच्छी रही। खाया-वाया कुछ नहीं, भेंट कर दिये फल। नहीं लेना चाहिये था। फल की उसे ज़रूरत नहीं थी। लेकिन न लेती तो क्या करती ? अपने कमरे में पहुँच कर उसने पोटली खोली। दो सेव थे, दो सन्तरे, छः केले। क्या किया जाय इन्हें ? खा जाय ? नहीं, वह खायगी नहीं। खाने की इच्छा नहीं, और खाने का विचार भी ठीक नहीं लगता। रख देना चाहिए, माँ आयगी तो जो चाहेंगी करेंगी। उठ कर उधर की आलमारी पर उसने फल रख दिये। रूमाल ? दे दिया जायगा किसी वक्त। कौन देने जाय इस वक्त ? रूमाल उठा कर उसने तख़्त पर बिछे हुए क़ालीन के नीचे रख दिया और फिर पुलोवर बुनने लगी। कौशल दादा ने ठीक लिखा है। अच्छे आदमी मालूम होते हैं। उनमें वह ऐब नहीं है जो पुरुषों में अक्सर देखा जाता है। कितने बुरे होते हैं वैसे पुरुष ! उन्हें देखकर भय लगता है, क्रोध आता है, घृणा लगती है। यह सब कुछ नहीं होता इन्हें देख कर।

सवा चार बजे माँ स्कूल से वापस आईं। सावित्री के सिर से जैसे एक भारी बोझ उतर गया।

एक सप्ताह व्यतीत हो चुका है। प्रमोद के सामने जाने में अब सावित्री को हिचक नहीं होती। उसकी उपस्थिति से उसे अब कोई असुविधा नहीं होती। उससे वह कुछ चाहता नहीं, फिर भी उसके सेवा-सत्कार का उसे हर समय ध्यान रहता है। और''एक बात और है। एक बड़ा मधुर भाव अंकुरित हो रहा है उसके मन में। मन उड़ानें भरता है उस भाव को लेकर। उचित नहीं लगता उसे मन का वह कृत्य।

माँ प्रमोद को बहुत पसंद करती है। विमला भी उसे बहुत पसन्द करती है। वह जब आती है तो उसकी चर्चा किये बिना, उसके सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रश्न किये बग़ैर नहीं रहती। वह मन लेती है सखी का, लेकिन सावित्री अपने अन्तर्द्वन्द्व को अपने अन्दर ही सीमित रखने के प्रयास में लगी रहती है।

एक दिन विमला माँ से चुपके-चुपके बातें कर रही थी। सावित्री ने आड़ से सुन लीं सारी बातें।

"एक बात कहूँ, माताजी ?" विमला ने कहा। "आप बुरा तो न मानेंगी ?"

"कहो, बिटिया ! बुरा क्यों मानूँगी ? कोई बुरी बात तो कहोगी नहीं।"

"सावित्री का पुनर्विवाह कर दीजिये।"

"इससे बढ़ कर क्या बात हो सकती है। लेकिन इसके लिए सावित्री की रज़ामन्दी की ज़रूरत है। और उसका जैसा रंग है उससे तो मालूम होता है कि शायद यह राज़ी न होगी।"

"नहीं, माताजी, मेरा तो ख़्याल है कि सावित्री बहिन राज़ी हो जायँगी।"

"अगर वह राज़ी हो गई, तो मैं योग्य वर खोजकर पुनर्विवाह ज़रूर कर दूँगी।"

"वर खोजने के लिये भी आपको दूर नहीं जाना पड़ेगा। प्रमोद बाबू कैसे रहेंगे?"

"हम ग़रीब लोग हैं। प्रमोद अमीर का लड़का है। फिर वह कुँआरा भी है। वह काहे को राज़ी होगा?"

"कभी-कभी असम्भव भी सम्भव हो जाता है, माताजी।"

"ऐसा हो सके, तो भगवान् को हज़ार बार धन्यवाद दूँ। लेकिन मुझे आशा नहीं है, बिटिया।"

सावित्री दबे-पाँव लौट गई अपने कमरे में। कैसी पगली है विमला! विचित्र बातें इसके दिमाग़ में आती हैं। ऐसा भी कहीं हो सकता है?

ऊपर दो छतें हैं और दो कमरे। एक कमरे में सावित्री रहती है, दूसरे में प्रमोद रह रहा है। सीढ़ी एक ही है ऊपर आने के लिए।

रात भीग चुकी है। चारों ओर अगाढ़ अन्धकार छाया हुआ है। गगन-मण्डल में असंख्य तारे टिमटिमा रहे हैं। उस छत के एक कोने में सावित्री खड़ी है मौन, मूर्त्तिवत्, विचारों में खोई हुई। सामने प्रमोद का कमरा है। आज सूना है वह कमरा। प्रमोद अपने रिश्तेदारों के घर गया है और कल सवेरे लौटेगा। रिश्तेदार के अत्यधिक आग्रह के कारण विवश होकर जाना पड़ा है प्रमोद को। अमीर आदमी का लड़का है प्रमोद। पिता बैरिस्टर हैं। बँगला है, कार है, नौकर-चाकर हैं। अपने घर में, उसे हर तरह का आराम है। फिर भी उस दिन उसने माँ से कहा था, "बुआजी, जैसा आराम मुझे आपके घर में मिल रहा है वैसा आराम कभी अपने घर में भी

नहीं मिला।" शायद अतिशयोक्ति से काम लिया था उसने, शायद किसी कारण से उसे पूर्णतः सत्य लगा हो अपना कथन। कितना बुरा लग रहा है इस कमरे का सूनापन! पहले भी यह सूना था, लेकिन तब इसका सूनापन ऐसा बुरा नहीं लगता था। इन चन्द दिनों के अन्दर इसमें जो सजीवता आ गई थी उसका अभाव आज कितना खटक रहा है? कल लौट आयगी वह सजीवता। लेकिन कब तक टिकी रहेगी वह? एक दिन तो वह चली ही जायगी सदैव के लिये। क्यों हो रहा है यह चन्द दिनों का खेल? कुढ़ाने के लिये सताने के लिये? प्रकाश और अंधकार; अंधकार और प्रकाश; प्रकाश कम, अंधकार अधिक! यही है जीवन!! जो अंधकार में पड़ा हो उसे थोड़ी देर तक प्रकाश में रख कर फिर अंधकार में डाल देना बहुत बड़ा अन्याय है। लेकिन कौन करे पीड़ितों के साथ न्याय? जो न्याय कर सकता है उसी की तो वह व्यवस्था है।

वह क्यों सोच रही है यह सब? उसे नहीं सोचना चाहिये यह सब।

वह सिंहासन! शायद अब खाली नहीं रहेगा वह सिंहासन। एक मूर्त्ति मचल रही है उस पर प्रतिष्ठित होने को।

(३)

एक मुसीबत से किसी तरह छुटकारा मिला था, दूसरी गले पड़ गई। अभी साल भर पहले जाह्नवी के तट पर उस सती की चिता जली थी, जिसे अपने मन के सम्पूर्ण पागलपन से प्रमोद ने प्यार किया था। वह एक मित्र और रिश्तेदार की पत्नी थी, सुशीला थी, अनुपम सुन्दरी थी। उसी समय वह उसे प्यार करने लगा था, जब विवाह के बाद वह ससुराल आयी थी और उसने उसे पहले-पहल

देखा था। लेकिन उसने कभी कोई बेजा हरकत नहीं की, कभी किसी तरह अपने मन का भेद प्रगट नहीं होने दिया। बस कभी-कभी उसके घर जाकर वह उसे देख आता था, उससे दो बातें कर आता था। उसे ईर्ष्या होती थी, दुख होता था; लेकिन अपनी ईर्ष्या से वह घृणा करता था, मन की पीड़ा को दाबे रहता था। तीन वर्ष के बाद एकाएक उसके मित्र का देहान्त हो गया। तब एक दिन अपनी प्रेयसी के सामने उसने अपना हृदय खोलकर रख दिया।

"जो कुछ तुम चाहते हो, लाला," गम्भीर भाव से अरुणा ने कहा, "वह मेरे पास नहीं है। घोंसला खाली है, चिड़िया उड़ गई है।"

"यह तुम्हारा भ्रम है, भाभी। घोंसला भी मौजूद है, चिड़िया भी मौजूद है। चिड़िया उड़ नहीं गई, सो रही है। मैं जगा लूँगा उसे!"

अरुणा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"मैं यह नहीं कहता कि आज ही उत्तर दे दो। जल्दबाज़ी की कोई ज़रूरत नहीं। अच्छी तरह सोच-समझ लो।"

"जिसे मैं सत्य समझे बैठी हूँ, उसे तुम भ्रम कहते हो! ख़ैर, सोच कर देखूँगी।"

उत्तर पाने के लिये वह हर सप्ताह उसके घर जाता। अरुणा टालती जाती। अन्त में उसने दे दिया उत्तर। एक दिन नख से शिख तक अच्छी तरह सज-धज कर, पति का फ़ोटो हृदय से लगा कर, विष खाकर, वह चिर-निद्रा में निमग्न हो गई।

उजड़ गई प्रमोद के स्वप्नों की दुनिया। सिर पीट लिया उसने। मन में अपार व्यथा लिये हुए, शोक की मूर्त्ति बना हुआ वह अर्थी

के साथ गया। और जाह्नवी के पावन तट पर जल कर भस्म हो गई सती अरुणा की चिता। और प्रमोद ने मान लिया कि उसकी प्रेयसी की चिता के साथ उसकी आशायें और कामनायें भी जल कर भस्म हो गईं।

फिर शान्ति की खोज में वह नौ मास तक निरन्तर देशाटन करता रहा। लेकिन शान्ति कहीं नहीं मिली उसे। फिर एकाएक बीमार पड़ जाने के कारण वह घर आया। धीरे-धीरे बढ़ कर रोग ने सांघातिक रूप धारण कर लिया। साधारण ज्वर मोतीझरा में परिणत हो गया। जीवन और मृत्यु के बीच झूलता हुआ वह दो मास तक रोग-शय्या पर एड़ियाँ रगड़ता पड़ा रहा। जीने की उसे किञ्चित मात्र भी इच्छा न थी। लेकिन मृत्यु की इच्छा करने से ही कोई मर नहीं जाता। जीवन की अवधि शेष थी, वह बच गया। रोग दूर हो गया। जब जर्जरित शरीर में यथेष्ट बल आ गया, तो डाक्टरों ने पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ के निमित्त स्थान-परिवर्त्तन की सलाह दी। अनेक स्थानों के प्रस्ताव उसके सामने रखे गये, लेकिन मित्रवर कौशल का प्रस्ताव उसे सबसे ज़्यादा पसन्द आया। सारी बातें अच्छी तरह समझा कर कौशल ने कहा—वहाँ तुम्हें पूरा आराम मिलेगा, प्रमोद, किसी तरह की असुविधा न होगी। और शायद तुम्हें वहाँ वह अमूल्य वस्तु भी मिल जायगी, जिसकी एक मुद्दत से तुम खोज कर रहे हो।"

"कौन-सी चीज़?"

"शान्ति।"

"सच कहते हो, यार?"

"बिलकुल सच कह रहा हूँ। एक दिन शायद इस प्रस्ताव के लिए तुम मुझे हृदय से धन्यवाद दोगे।"

"तब तो मैं वहाँ जरूर जाऊँगा। आज ही खत लिख दो।"

और इस तरह वह आ गया यहाँ और फँस गया नई मुसीबत में। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ पूरा आराम मिल रहा है, किसी तरह की कोई असुविधा अनुभव नहीं हो रही है। और जी चाहता है कि सदैव यहीं रहा जाय, कहीं न जाया जाय। शान्ति निस्सन्देह निवास करती है इस घर में। उसके अन्दर की वह अशान्ति, जो उसे तिल-तिल करके खाये जा रही थी, दूर हो गई है। लेकिन एक दूसरी प्रकार की अशान्ति उमड़ी आ रही है उसके मन में। उसने समझा था कि उसकी सुन्दरतम आशाएँ और कामनाएँ जल कर भस्म हो गईं। लेकिन अब विदित हो रहा है उसे कि वह उसका भ्रम था। वह मरी नहीं थीं, सो गई थीं। चिड़िया उड़ नहीं गई थी, निद्रामग्न हो गई थी। मुर्झाया हुआ मन एक बार फिर ताज़ा होकर बुनने लगा है सुन्दर सपनों के ताने-बाने। आशाएँ पनप उठी हैं, कामनाएँ जाग पड़ी हैं। कौशल ने अच्छा नहीं किया उसे यहाँ भेज कर। जो एक बार आग में झुलस चुका हो, वह फिर क्यों कूदे आग में? लेकिन कौन उलट सकता है भाग्य के क्रम को।

प्रमोद अत्यधिक भावुक है, कट्टर आदर्शवादी है। इसी के कारण वह एक मुद्दत से इधर-उधर ठोकरें खाता फिर रहा है। फिर भी वह अपनी भावुकता की क़द्र करता है, अपने आदर्शों पर जान देता है। दुनियादारी की बू उसके मिज़ाज़ में ज़रा भी नहीं है। अगर दुनीयदारी की भावना उसमें ज़रा भी होती, तो वह अब तक कब का पूर्ण गृहस्थ बन कर चैन की बंशी बजाता होता। लेकिन उसे नहीं चाहिये दुनियादारी। वह हेय समझता है दुनिया-दारी की भावना को।

फाल्गुन की अलसाई हुई दोपहरी है। प्रमोद अपने कमरे में खिड़की के सामने आरामकुरसी पर लेटा हुआ है। हाथों में एक उपन्यास खुला हुआ है। बासन्ती बयार के मधुर झोंके खुली हुई खिड़की से आ आकर शरीर में मस्ती भरे दे रहे हैं। दिमाग़ में एक अजीब नशा-सा छाया हुआ है। उपन्यास मनोरञ्जक है, लेकिन मस्तिष्क को उलझाये रखने में वह समर्थ नहीं हो रहा है। मन उलझा हुआ है एक दूसरे ही रस-पाश में। एक मूर्त्ति खड़ी है आँखों के सामने। मूर्त्ति एक युवती की है। युवती अत्यधिक सुन्दर है। उसका एक-एक अंग सुन्दर साँचे में ढला है। सुगौर रङ्ग, भरी हुई बाहें, अरुण कपोल, पतले-पतले गुलाबी अधर, मोतियों जैसी दंत-पंक्तियाँ, सुन्दर नासिका, बड़ी बड़ी रतनार आँखें, रेशम जैसे सुकोमल केश··· । बस, वह देखा करे उसे, देखा करे उसे।

एकाएक ज़ोर के धमाके की आवाज़ हुई। चौंक कर उठ खड़ा हुआ प्रमोद और तेज़ी से कमरे से बाहर निकला। सीढ़ी पर पहुँच कर उसने देखा, सावित्री सीढ़ी के नीचे बेहोश पड़ी थी। तेज़ी से नीचे जाकर, उसे गोद में उठाकर वह सावधानी से ऊपर चला। ऊपर जाकर, अपने कमरे में पहुँच कर, उसने उसे पलंग पर लेटा दिया, फिर सुराही से जल लेकर मुख पर छींटे दिये, लेकिन होश नहीं आया सावित्री को! क्या बात है? गहरी चोटें आ गईं क्या? कहाँ-कहाँ चोटें लगी हैं? कुहनियाँ छिल गई हैं। पैर भी कई जगह छिल गए हैं। और तो कोई चोट दिखाई नहीं देती। शायद कहीं अन्दर गहरी चोट आ गई है। अब क्या करना चाहिए? स्मेलिंग साल्ट! हाँ, है तो स्मेलिंग साल्ट सूट-केस में। तुरन्त स्मेलिंग-साल्ट की शीशी सूट-केस से निकाली, काग खोला,

और लगा दी शीशी नाक में। पलकें फड़फड़ाईं, लेकिन खुल न सकीं। प्रमोद ने फिर शीशी सुँघाई। इस बार सावित्री ने आँखें खोल दीं। भयानक पीड़ा उमड़ पड़ी आहत शरीर में। वह कराह उठी। प्रमोद तड़प उठा। उसने तुरन्त जल भरकर गिलास उसके ओठों से लगा दिया। सावित्री ने पी लिया दो घूँट। फिर वह उठने की कोशिश करने लगी।

"लेटी रहो, लेटी रहो। अभी उठोगी तो नुक़सान होगा।"

उठने की कोशिश के कारण दर्द असह्य हो उठा। उसने आँखें बन्द कर लीं, और दर्द को दाबने की कोशिश करने लगी। सूट-केस खोल कर, एक टानिक की शीशी निकाल कर, एक खुराक गिलास में उँड़ेल कर, जल मिला कर, प्रमोद फिर पहुँचा पलङ्ग के समीप।

"पी लो इसे," सावित्री के ओठों से गिलास लगाकर उसने कहा।

सावित्री ने पिया एक घूँट। दवा कड़वी थी। वह हटाने लगी अपना मुख।

"पी जाओ। कड़वी तो है, लेकिन बहुत फ़ायदा करेगी, दर्द कम हो जायगा।"

सावित्री ने पी लिया चुपचाप। प्रमोद रूमाल से उसके मुख पर हवा करने लगा।

"रहने दीजिये।"

प्रमोद ने हाथ रोका नहीं।

"रहने दीजिये कृपा करके। हवा आ रही है खिड़की से।"

"अरे हाँ, यह तो मैं भूल ही गया।"

मुस्करा पड़ी सावित्री ।

"कहाँ-कहाँ दर्द हो रहा है ?"

सावित्री चुप रही ।

"बोलो ।"

"कुल शरीर में ।"

"अन्दर तो कहीं चोट नहीं आई ?"

"पता नहीं ।"

"अन्दर कहीं दर्द हो रहा है ?"

"हाँ ।"

"कहाँ ?"

उत्तर नहीं दिया सावित्री ने ।

"कैसे गिर पड़ीं ?"

"नीचे जा रही थी । एकबारगी चक्कर आ गया । सँभल नहीं सकी ।"

"सँभल कर उतरा करो ।"

दवा काम कर रही थी । नशा-सा छाया जा रहा था दिमाग़ पर । पलकें भारी हुई जा रही थीं । दर्द घट गया था । शरीर में स्फूर्ति दौड़ने लगी थी । वह उठने लगी ।

"अभी लेटी रहो ।"

वह उठ बैठी । दर्द का तेज़ झोंका आया । फिर घटने लगा दर्द ।

"अब दर्द कैसा है ?"

"कम हो गया ।"

ज़ोर लगा कर, चारपाई से उतर कर वह खड़ी हो गई । पीड़ा अत्यधिक तीव्र हो गई । शरीर काँपने लगा । वह लड़खड़ाकर गिरने

लगी। लपक कर, अपनी बाँहों में सँभाल कर, प्रमोद ने उसे फिर पलंग पर लेटा दिया।

"अब फिर उठने की कोशिश न करना।"

सावित्री ने आँखें बन्द कर लीं। अच्छी आफ़त आ गई। कितनी तकलीफ़ हो रही है इसे! गिरना ही था तो सवेरे गिरती, शाम को गिरती। बहुत बुरा हुआ इस समय गिरना।

पन्द्रह मिनट बीत गये।

"मैं अपने कमरे में जाऊँगी!"

"कैसे जाओगी?"

"चली जाऊँगी किसी तरह।"

"नहीं जा सकोगी।"

चुप रही सावित्री।

"खुद तो नहीं जा सकोगी, लेकिन चाहो तो मैं ले चलूँ?"

"आप कैसे ले चलेंगे?"

"वैसे ही जैसे नीचे से यहाँ लाया था।"

"आपको कष्ट होगा। रहने दीजिये।"

"नहीं, मुझे ज़रा भी कष्ट नहीं होगा।"

"नहीं, रहने दीजिये।"

"नहीं, मुझे कुछ भी कष्ट नहीं होगा, सावित्री।"

और उसने झुककर उसे गोद में उठा लिया। सिहर उठी सावित्री। बड़ी शर्म लगी उसे।

उसके कमरे में पहुँच कर प्रमोद ने उसे पलंग पर लेटा दिया।

"कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई।"

"नहीं।"

"दर्द अब कैसा है ?"

"बहुत कम है ।"

चार बजे माँ स्कूल से वापस आई। हाल सुना, तो होश उड़ गये। लग गई तुरन्त सेवा-सुश्रूषा में।

रात में सावित्री को ज्वर आ गया। प्रमोद तुरन्त एक योग्य डाक्टर को बुला लाया। डाक्टर ने परीक्षा कर चुकने के बाद कहा —"चोट काफ़ी आ गई है, लेकिन उतनी ज़्यादा नहीं आई है। चिन्ता की कोई बात नहीं है।"

इलाज शुरू हुआ। ज्वर दूसरे ही दिन उतर गया। चार दिन के बाद सावित्री चलने-फिरने के लायक हुई। एक सप्ताह में वह बिलकुल चंगी हो गई।

सावित्री और प्रमोद एक दूसरे के और भी निकट आ गये।

ख़ाली नहीं रह गया सिंहासन। एक सुन्दर मूर्त्ति प्रतिष्ठित हो गई उस पर।

अर्द्धरात्रि व्यतीत हो चुकी है। नींद नहीं है प्रमोद की आँखों को। सुगौर रङ्ग, भरी हुई सुन्दर बाहें, अरुण कपोल, पतले-पतले गुलाबी अधर, मोतियों जैसी दंत-पंक्तियाँ, सुन्दर नासिका, बड़ी-बड़ी रतनार आँखें, रेशम जैसे सुकोमल केश···! और बस स्पर्श—वह रोमांचकारी, उन्मत्तकारी स्पर्श ! तूफ़ान उठा हुआ है मस्तिष्क में, दावानल दहक रहा है हृदय में। सारा शरीर जैसे झुलसा जा रहा है, फुँका जा रहा है। अब बर्दाश्त नहीं हो सकता, नहीं हो सकता।

वह दबे-पाँव निकला अपने कमरे से और बढ़ा चुपके-चुपके सावित्री के कमरे की ओर। पैर काँप रहे थे, शरीर सिहरा जा रहा था, हृदय हथौड़े की तरह चोट कर रहा था।

दरवाज़ा भिड़ा था उस कमरे का; लेकिन साँकल नहीं चढ़ी थी। धीरे से, बहुत धीरे से दरवाज़ा खोलकर उसने प्रवेश किया कमरे में। लैम्प का मन्द प्रकाश कमरे में फैला था। सौंदर्य-राशि बिखरी थी पलङ्ग पर। निद्रा-मग्न थी सावित्री। आँचल सरक कर कमर पर आ गया था, केशों की एक लट मुख पर आ गई थी। सौन्दर्य की किरणें प्रस्फुटित हो रही थीं मन्द-मन्द। प्रमोद बढ़ा धीरे-धीरे पलङ्ग की ओर। पलङ्ग के समीप पहुँच कर, वह एक क्षण अवलोकन करता खड़ा रहा सौन्दर्य की वह अनुपम छवि। फिर वह झुका। सावित्री की साँस जैसे रुक गई एक क्षण के लिए, बन्द पलकें फड़फड़ा उठीं एकाएक। सिहर उठा प्रमोद। नहीं, नहीं, नहीं। यह ठीक नहीं, यह ठीक नहीं, यह ठीक नहीं।

वह लौट पड़ा उसी तरह दबे-पाँव। कमरे से बाहर निकलकर उसने दरवाज़ा बन्द कर दिया धीरे से, फिर चल पड़ा अपने कमरे की ओर धीरे-धीरे। अपने कमरे में पहुँचकर, वह गिर पड़ा बिस्तर पर, और लोटने लगा अपार मनोव्यथा से तड़पता हुआ।

रात भर वह एक क्षण के लिए भी सो नहीं सका। सवेरा होते ही नीचे जाकर उसने माँ से कहा—आज मैं जाऊँगा बुआ जी।"

"कहाँ जाओगे?"

"घर जाऊँगा। साढ़े सात बजे एक गाड़ी जाती है, उसी से जाऊँगा।"

"ऐसी क्या जल्दी है? दो-चार दिन और रह जाओ।"

"नहीं, माफ़ कीजिये। बहुत ज़रूरी काम है।

और तेज़ी से ऊपर जाकर वह अपना सामान ठीक करने लगा। दस मिनट के बाद सावित्री ने प्रवेश किया कमरे में।

"आप जा रहे हैं ?"

"हाँ, जा रहा हूँ।"

"क्यों जा रहे हैं आप ?"

"इसलिए कि जाना ज़रूरी है।"

"फिर कब आयँगे आप ?"

"कह नहीं सकता !"

सावित्री चली गई मन ही मन तड़पती हुई।

ताँगा आ गया दरवाज़े पर। सामान लाद दिया गया।

"सावित्री कहाँ है बुआ जी ?"

"शायद अपने कमरे में है।"

वह ऊपर चला धीरे-धीरे। उस कमरे में पहुँचकर उसने देखा, दरवाज़े की ओर पीठ किए सावित्री खड़ी थी एक खिड़की के समीप।

"सावित्री !"

"जी।"

"मैं जा रहा हूँ।"

चुप रही सावित्री।

"अगर मुझ से कोई भूल हुई हो, तो मुझे माफ़ कर देना।"

गला रुँध गया सावित्री का।

"नमस्ते !"

आँसू उमड़ पड़े सावित्री की आँखों में।

वह चला गया।

आँसू बरसने लगे सावित्री की आँखों से। उमड़ते चले आ रहे हैं आँसू। जैसे दिल बह जायगा आँसुओं में।

फ़िजूल चला जा रहा है वह। कोई भूल उससे नहीं हुई। वह तो प्रतिष्ठित हो चुका है सिंहासन पर। उसकी किसी भूल को वह भूल कैसे समझ सकती है?

(४)

तुम क्यों चले गये, प्रमोद? कोई अपराध बन पड़ा सावित्री से, कोई त्रुटि हुई सेवा में?

दिन पहाड़-सा लगता है, रात किसी तरह काटे नहीं कटती। परीक्षा आरम्भ होने में केवल एक सप्ताह बाकी है, लेकिन पढ़ाई में मन ज़रा भी नहीं लगता। चित्त हर समय उदास और खिन्न बना रहता है।

भाग्य क्यों कर रहा है उसके साथ ऐसा निर्दय खेलवाड़? मौत क्यों नहीं आ जाती?

कानपुर, आगरा, दिल्ली, लाहौर, कलकत्ता, मद्रास, बम्बई,? कहीं भी चैन नहीं मिल रहा है प्रमोद को, कहीं भी शान्ति नसीब नहीं हो रही है। शान्ति! शान्ति! शान्ति चाहिए प्रमोद को। न मिलेगी शान्ति, तो निमंत्रण देना ही पड़ेगा मृत्यु को! मृत्यु! नहीं, शान्ति चाहिए, शान्ति।

एक सुन्दर नगर है। उस सुन्दर नगर में एक छोटा-सा घर है। उस सुन्दर घर में एक परी निवास करती है। उस परी के पास सब-कुछ है। वह शान्ति दे सकती है, सब-कुछ दे सकती है।

क्यों भाग आया वह उस घर से? मूर्खता, पागलपन! भूल! भूल हुई होती तो परी ताड़ना देती। मन का निरोध? वैराग्य के मार्ग पर चले विना मन का निरोध सम्भव नहीं। तैयार है वह वैराग्य के लिये? अभी समय नहीं इसका। ज़रूरी है बीच की मंज़िल।

दो बजे हैं। तीन बजे एक गाड़ी जाती है उस नगर को। बस, चल देना चाहिये।

सामान समेट कर, बिल चुका कर, होटल से निकल कर, टैक्सी पर सवार होकर वह चल पड़ा स्टेशन की ओर।

परीक्षा समाप्त हो गई। अधिकांश परचे बिगड़ गये। वैसी ही हालत है सावित्री की।

मध्याह्न बीत चुका है। अपने कमरे में तख़्त पर बैठी हुई सावित्री खिड़की के बाहर ताक रही है शून्य दृष्टि से। भीतर, बाहर चारों ओर शून्य ही शून्य। बस यह शून्य ही सत्य है, और सब कुछ मिथ्या है। निरर्थक है मानव जीवन, निरर्थक है संसार। खट-खट-खट ! खट-खट-खट !

कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है ? क्या माँ लौट आयीं ? लेकिन वह तो कह गई थीं कि छः बजे से पहले नहीं लौटूँगी। मिडिल की परीक्षा हो रही है, गार्ड हैं।

खट-खट-खट ! खट-खट-खट ! !

माँ तो इस तरह दरवाज़ा नहीं खटखटातीं ? फिर कौन है ?

नीचे जाकर उसने दरवाज़ा खोला। खुशी से उछल पड़ा हृदय। प्रमोद सामने खड़ा था।

"नमस्ते !"

"नमस्ते !"

अन्दर आकर प्रमोद ने दरवाज़ा बन्द कर दिया।

"मैं लौट आया, सावित्री ! भूल तो नहीं की मैंने ?"

सिर झुकाये खड़ी रही सावित्री। आँसू ढुलकने लगे उसकी आँखों से।

आगे बढ़कर, उसे हृदय से लगा कर, प्रमोद अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछने लगा।

मस्ती से झूलने लगा सिंहासन। आनन्द की किरणें फूट पड़ीं चारों ओर।

"जल्दी सामान उतारिये बाबूजी," बाहर से ताँगेवाले ने आवाज़ दी।

—:*:—

नलिनी

लोग समझते हैं, अरुण बुद्धू है। लेकिन अरुण ऐसा नहीं समझता। अपने चरित्र में बुद्धूपन का कोई लक्षण उसे कहीं दिखाई नहीं देता। एक प्रतिष्ठित कालेज में प्रोफ़ेसर है, अर्थ-शास्त्र का पण्डित है, होश-हवास दुरुस्त हैं, हर बात की तह तक पहुँचने की कोशिश करता है। अन्य मनुष्यों की तरह उसके शरीर में भी एक हृदय है। हृदय भावुक है। लेकिन अनियन्त्रित नहीं है उसकी भावुकता। फिर भी लोग कहते हैं, वह बुद्धू है। हैरान है अरुण।

"अब क्या करने जा रहे हो, अरुण?" रेडियो बन्द करके नलिनी ने कहा।

"कुछ नहीं," जँभाई लेकर अरुण ने उत्तर दिया।

"तो मुझे सिनेमा दिखा लाओ।"

"मुकुट बाबू क्या···?

"उन्हें कोई बहुत ज़रूरी काम है। आज वह नहीं आ सकेंगे।"

"कहाँ चलोगी?"

"जहाँ कहो।"

"जहाँ चाहो चलो। मुझे किसी फ़िल्म में ख़ास दिलचस्पी नहीं है।"

"नेशनल थियेटर चलें?"

"चलो। कौन सी फ़िल्म चल रही है वहाँ?"

"देवदास, बड़ी शोहरत है इस फ़िल्म की।"

"तारीफ़ तो मैंने भी सुनी है।"

"बस, वहीं चलना ठीक रहेगा। कपड़े बदलने जाओगे, या यही पहिने चलोगे?"

"जैसा कहो।"

"आसमानी रङ्गवाला सूट पहन लेते तो ज़्यादा अच्छा होता।"

"होता तो ज़्यादा अच्छा।"

"यह सूट कुछ बुरा नहीं है।"

"हाँ, यह भी कुछ बुरा नहीं है।"

"अच्छा, तो मैं तैयार हो आऊँ।" तब तक तुम बैठो। रेडियो खोल लो, ग्रामोफ़ोन बजाओ या पत्रिकायें देखो।"

"अच्छा।"

नलिनी चली गई एक मस्ताने अन्दाज़ से। जब तक वह कमरे से बाहर नहीं हुई, तब तक अरुण उसको मंत्र-मुग्ध दृष्टि से देखता रहा। फिर दीर्घ निःश्वास खींचकर, उस दरवाज़े से दृष्टि हटा कर, वह फ़र्श की ओर ताकने लगा। प्रायः नित्य वह यहाँ आता है, और तब तक रहता है जब तक रह सकता है। अक्सर उसके मन में उठता है कि यह ठीक नहीं। लेकिन यहाँ आये बिना उससे रहा नहीं जाता। एक जादू, एक प्रचण्ड आकर्षण उसे खींच लाकर यहाँ खड़ा कर देता है।

"दिल ही तो है न संगोखिश्त,
दर्द से भर न आये क्यों।
रोयेंगे हम हज़ार बार
कोई हमें रुलाये क्यों।"

वह गुनगुनाने लगा यह शेर, और उसके स्वर में उमड़ पड़ी वह मधुर पीड़ा जो उस शेर में निहित थी। हाड़-मांस की मानव-माया में जो एक हृदय है; वह ईंट-पत्थर नहीं है। पीड़ा से प्रभावित होना हृदय का स्वभाव है। फिर कोई क्यों आशा करे कि हृदय पीड़ा से प्रभावित न हो ? वह गुनगुनाता रहा उस शेर को कई मिनट तक। फिर उठ कर उधर ग्रामोफ़ोन के समीप जाकर उसने एलबम से अशोक के एक प्रसिद्ध गीत का रेकार्ड निकाला। बजने लगा रेकार्ड—

'पीर पीर क्या रटता रे,
तेरी पीर न जाने कोय !'

एक के हृदय की पीड़ा क्या दूसरे का हृदय अनुभव नहीं कर सकता ? नहीं अनुभव कर सकता, बेशक नहीं अनुभव कर सकता ? कर सकता है तो उस असाधारण अवस्था ही में कर सकता है जब दोनों के बीच किसी प्रकार का विभेद न हो, जब दोनों का एकीकरण हो गया हो। दो हृदयों का एकीकरण ! कितनी सुखद, कितनी सुन्दर, कितनी पावन होगी वह अवस्था। मुश्किल है वह मंज़िल, दुर्लभ है वह अवस्था। नलिनी समझदार है, नलिनी दिलवाली भी है। लेकिन क्या वह साथ दे सकेगी उसका, उस मंज़िल तक पहुँचने में ?

विचारों में डूबा हुआ आत्म-विस्मृति की दशा में बैठा रहा

वह। कब गीत समाप्त हुआ, कब ग्रामोफ़ोन आप ही आप बन्द हुआ, कब नलिनी कमरे में आई—यह सब वह जान न सका।

"अरुण।"

"हाँ, चौंक कर अरुण ने कहा।

"किस ख्याल में खो गये थे?" सोफ़े पर अरुण की बगल में बैठकर, मुस्करा कर नलिनी ने पूछा।

"एक निहायत बारीक, निहायत नाज़ुक, निहायत प्यारे ख्याल में।"

"क्या था वह ख्वाब? ज़रा मैं भी सुनूँ।"

"जाने दो उसे। ख़तरे से ख़ाली नहीं है सुनाना।"

"क्यों?"

"इसलिए कि उसे सुनकर शायद तुम मुझे पागल समझने लगोगी और फिर मुझे अपने पास न फटकने दोगी।"

नलिनी हँस पड़ी।

"डरो मत, अरुण! इन दोनों में से कोई बात न होगी। सुना दो।"

"अच्छा सुनो। मैं सोच रहा था कि अगर मैं जादूगर होता तो देव बन कर अपनी माशूका को किसी जगह उठा ले जाता, जहाँ कोई उसका पता न लगा सकता।"

नलिनी ज़ोर से हँस पड़ी।

"कौन है तुम्हारी माशूका?" हँसते हुए नलिनी ने प्रश्न किया।

"यह न बतलाऊँगा।"

"क्यों?"

"इसलिए कि अगर तुमने उसके कान भर दिए, तो वह मेरी

सूरत से नफ़रत करने लगेगी।"

"यह डर है तो रहने दो, मैं खुद उसका पता लगा लूँगी!"

"इस बात से तुम्हें कौन रोक सकता है? तैयार हो आईं?"

"परी-सी।"

"झूठे हो।"

"शायद।"

नलिनी हँसने लगी।

"अब चलना चाहिए," घड़ी पर दृष्टि डालकर अरुण ने कहा

"चाय पी लें तो चलें। आई जाती है अभी।"

"बेहतर है।"

"अरुण!"

"हाँ।"

"अगर तुम किसी राजा के दरबार में होते, तो माला-माल हो गए होते।"

"इस वक्त भी मुझे कोई कमी नहीं है!"

"कोई कमी नहीं है?"

"इस वक्त तो नहीं है।"

"कब महसूस होती है कमी?"

"जब तुम्हारे पास गुज़ारा…"

"बस, रहने दो अपनी बकवास। लो आ गई चाय।"

सोफ़े के सामने एक छोटी-सी मेज़ पर चाय की ट्रे रख कर सेवक चला गया। नलिनी प्यालों में चाय ढालने लगी।

"अरुण!"

"हाँ।"

"अकसर मैं सोचती हूँ कि अगर मैं मर जाऊँ तो बड़ा अच्छा हो।"

"ऐसी मनहूस बात क्यों आती है तुम्हारे दिमाग में ?"

"इसलिए कि मैं अपनी आँखों अपना बुढ़ापा नहीं देखना चाहती।"

"बुढ़ापे के आगमन का फिलहाल तो कोई खतरा दिखाई नहीं देता ?"

"फिर भी एक न एक दिन तो वह ज़रूर ही आयगा।"

"बेशक, एक न एक दिन तो वह ज़रूर ही आयगा। लेकिन, नलिनी, मैं तो अगर उसे रोक सकूँ, तो भी न रोकूँ।"

"क्यों ?"

क्योंकि वह एक अस्वाभाविक अवस्था होगी।"

"यहाँ मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ, अरुण ! अगर यह मेरे वश की बात हो, तो मैं कभी उसे अपने पास न फटकने दूँ।"

"मनुष्य को सब पन देखने चाहिए।"

"इस ख्याल का ज़माना अब लद गया। मनुष्य को अपनी शक्तियों का अब जो ज्ञान हुआ है वह उसे प्रेरित कर रहा है कि वह प्रकृति की शक्तियों से लड़े और उन्हें परास्त कर देने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहे।"

"प्राचीन युगों में भी मनुष्य ने ऐसे प्रयत्न किए थे। कहते हैं कि यूनान और मिस्र के कई हकीमों ने ऐसे नुस्खे तैयार किये थे जिनके ज़रिये बुढ़ापे की आमद रोकी जा सकती थी और उसके लक्षण दूर किए जा सकते थे।"

"सच ? अब क्या वे नुस्खे नहीं मिल सकते ?"

"जहाँ तक मुझे मालूम है, इस समय तो वे नुस्खे अप्राप्य हैं।

लेकिन खोज की जाय तो शायद मिल जायँ।"

"शायद वाली शर्त तो बहुत बुरी है। क्यों कोई खोज करेगा, क्यों वे बेशक़ीमती नुस्खे मिलेंगे?"

"ठीक कहती हो।"

"तुम क्या इस तरफ़ कोशिश नहीं कर सकते?"

"मैं? मेरा तो यह विषय नहीं है। फिर इसके लिए सालों मिस्र, यूनान और इंग्लैण्ड की ख़ाक छाननी पड़ेगी।"

"और मुमकिन है कि अन्त में सारी कोशिश बेकार साबित हो?"

"बस, कह दिया तुमने।"

"अफ़सोस! हम जैसों के लिए कोई आशा नहीं!"

अरुण हँसने लगा।

"एक प्याला और पियो, अरुण।"

"बस, धन्यवाद!"

"अच्छा, तो चलो चलें।"

"चलो।"

वे उठ खड़े हुए। एक सेविका स्वामिनी का कोट लेकर हाज़िर हुई, और यत्नपूर्वक पहिनाने लगी। किन्तु यत्न ठीक नहीं रहा। भूल हो ही गई।

"हट, तुझ से नहीं बनता," नलिनी ने चिढ़ कर कहा। "तुझे कभी शऊर न होगा, गुलाबी।"

गुलाबी सहम कर अलग हट गई। नलिनी ने अरुण की ओर आदेशसूचक दृष्टि से देखा। सेविका के हाथ से लेकर अरुण तुरन्त कोट पहिनाने लगा।

"देखा! उलटा पहिना रही थी। अगर वैसे पहिन लेती, तो

बटन पीठ पर बन्द करने पड़ते । बड़ी नालायक़ है गुलाबी । इसे कभी शऊर न होगा ।"

"अकसर हड़बड़ाहट में ऐसी भूलें हो जाया करती हैं," अरुण ने कहा—

"बूढ़ी होने को आई, लेकिन हड़बड़ाहट न गई, शऊर न आया !"

सेविका चली गई सिर झुकाए हुए चुपचाप ।

"ठीक है अब ?"

"हाँ, ठीक है ।" और उधर दीवार पर लगे हुए बड़े शीशे के सामने जाकर वह निरीक्षण करने लगी अपने वस्त्रों का, अपने शृङ्गार का, अपने रूप का ।

झूम पड़ी वह अपनी कला पर । अत्यधिक सुन्दर था शृङ्गार, अत्यधिक आकर्षक हो उठा था रूप । मुग्ध दृष्टि से देखती हुई, मुस्कराती हुई, वह खड़ी रही कई क्षणों तक । फिर वह झूमती हुई दरवाज़े की ओर बढ़ी । अरुण पीछे चला ।

पोर्टिको में कार तैयार खड़ी थी । वे सवार हुए कार पर । कार चल पड़ी ।

हमारे समाज का अतिशय सौभाग्यशाली उच्च वर्ग है, उसमें अपने नियम हैं, अपने तरीक़े हैं । उन नियमों और तरीकों की पाबन्दी उस वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति का परम धर्म है । इसलिए जो कोई उन नियमों का पालन नहीं करता, उन तरीक़ों पर नहीं चलता, वह अप्रगतिशील क़रार दिया जाकर उस सुशिक्षित, सुसंस्कृत वर्ग की दृष्टि से गिरकर निन्दा का पात्र बन जाता है । साहित्य और कला-संरक्षण इस वर्ग का जन्मसिद्ध अधिकार है । नलिनी अप्रगतिशील बनना नहीं चाहती, किसी से जौ भर भी कम

रहना नहीं चाहती। वह नियमपूर्वक फ़िल्में देखती है, इसलिए नहीं कि उसे फ़िल्म-कला से प्रेम है, बल्कि इसलिए कि वह अपने वर्ग की दृष्टि में गिरना नहीं चाहती।

वह फ़िल्म फ़िल्म-कला की उत्कृष्ट कृति थी। सारा हाल निस्तब्ध था, मुग्ध था, आन्दोलित था। लेकिन नलिनी का मन नहीं लग रहा था देखने में। रह-रह कर बात करने लगती, पान और पानी की फ़र्माइश करती। खेल के बीच में बात करना या अपने स्थान से हटना अरुण की दृष्टि में बड़ी अशिष्टता की बात थी। लेकिन वह विवश था। नलिनी के प्रश्नों का उत्तर उसे देना ही पड़ता, उसकी फ़र्माइश पूरी करनी ही पड़ती।

[२]

दस बजे के क़रीब वे सिनेमा से वापस आये। नलिनी के कारण अरुण वह फ़िल्म ठीक तरह देख तो नहीं सका, लेकिन जो कुछ वह देख पाया उसने उसके ऊपर गहरा प्रभाव डाला। उसके बारे में वह बहुत कुछ कहना-सुनना चाहता था। लेकिन खेल समाप्त होते ही नलिनी ने अन्य बातों का ऐसा सिलसिला छेड़ा कि अरुण को उसके विषय में अपने विचार प्रकट करने का मौक़ा ही न मिला।

ड्राइंग रूम में पहुँच कर, एक सोफ़े पर अस्त-व्यस्त बैठकर, दीर्घ निःश्वास खींच कर, नलिनी ने कहा—"जान छूटी लाखों पाये!"

"इतनी बढ़िया फ़िल्म, और तुम कहती हो, "जान छूटी लाखों पाये"

"मैं यह नहीं कहती कि वह बुरी फ़िल्म है, लेकिन उसे अच्छी

भी नहीं कह सकती।"

"यह अन्याय है।"

"जिस चीज़ को देखकर तबीयत खुश न हो। उसे अच्छी कैसे कह सकती हूँ? दुखान्त कहानियाँ मुझे पसन्द नहीं आतीं।"

"दुखान्त कहानियों में कला अपने चरम-विकास को पहुँच जाती है।"

"मुझे आनन्द चाहिए, शान्ति चाहिए। दुख के ख्याल से मेरा जी घबराता है।"

"देवदास-सा प्रेमी, पार्वती-सी प्रेमिका, चन्द्रा-सी प्रेम की पुजारिन! लाजवाब चीज़ है 'देवदास'!"

"देवदास बेवक़ूफ़ था, पागल था," नलिनी ने मुँह बना कर कहा।

"और पार्वती?"

"वह भी कम बेवक़ूफ़ नहीं थी।"

"मैं तो अगर उन तीनों के पैरों की धूल भी अपने मत्थे पर लगा सकने के योग्य बन सकूँ, तो अपने को धन्य मानूँ।"

"तब तुम्हारे बारे में भी मेरी वही राय होगी, जो तीनों के बारे में है।"

अरुण हँस पड़ा। नलिनी भी हँसने लगी।

"मैं अन्दर आ सकता हूँ?"

दोनों ने दृष्टि उठाकर देखा। मुकुटबिहारी उधर के दरवाज़े पर खड़ा था।

"आओ, आओ" उत्साह भरे स्वर में नलिनी ने कहा। खूब आये, बहुत अच्छे आये।"

"नमस्ते!" कमरे में आकर मुकुट ने कहा।

"नमस्ते ! आओ, बैठो।"

अरुण एक ओर हट गया।

"धन्यवाद !" और मुकुट बैठ गया नलिनी के बग़ल में।

"काम से कैसे फ़ुर्सत मिल गई ?"

"मिल गई किसी तरह।"

"अच्छा अरुण, अब तो तुम्हें देर हो रही होगी ?"

"हाँ, देर तो हो रही है," उठकर अरुण ने कहा। "अच्छा नमस्ते !"

"नमस्ते !"

चला गया अरुण।

"ये हज़रत यहाँ क्यों आते हैं ?" गम्भीर-स्वर में मुकुट ने प्रश्न किया।

"जिस लिए तुम यहाँ आते हो।"

"उसकी सूरत जब देखता हूँ, तो तबीअत जल उठती है।"

"बड़ा अच्छा होता है।"

"एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं।"

"रखने वाला चाहिए, कई रह सकती हैं।"

"तो क्या सचमुच तुम अरुण को भी उतना ही मानती हो जितना मुझे ?"

"नहीं जी," नलिनी ने हँस कर कहा। "मैं तो मज़ाक कर रही थी।"

"सच कहता हूँ, नलिनी, जब तुम्हारे पास आता हूँ, तो मालूम होता है जैसे अँधेरे से रोशनी में आ गया हूँ।"

"मुझे भी ऐसा ही लगता है।"

"बड़ी प्यास लगी है। गला सूखा जा रहा है।"

"पानी मँगवाऊँ ?"

"पानी से यह प्यास नहीं बुझेगी।"

"तब ?"

"जान-जानकर अनजान बनती हो ?"

"बड़े वैसे हो तुम," हँसकर नलिनी ने कहा। और वह उठकर उधर रखे हुए कप-बोर्ड की ओर बढ़ी।

मुकुट भी उठकर कप-बोर्ड के पास पहुँच गया। ब्लैक-ऐंड ह्वाइट और रैस्पबेरी की बोतलें और गिलासें लेकर वे वापस आये।

बोतलें खुलीं। गिलासें भरी। उठा लिए दोनों ने अपने-अपने गिलास।

"गुड-लक !"

"गुड-लक !"

"नलिनी !"

"हाँ।"

"तुम कितनी सुन्दर, कितनी नेक, कितनी प्यारी लगती हो, कह नहीं सकता !" तीसरा पेग जमाकर मुकुट ने कहा।

"बातें बनाते हो।"

"यक़ीन न हो, तो मेरा दिल चीर कर देख लो। सच कहता हूँ, नलिनी, अपनी तस्वीर के सिवा कुछ न पाओगी।

"दिल चीरकर देखने की ज़रूरत नहीं। मुझे यक़ीन है। क्योंकि अगर यह बात न होती, तो मेरा दिल तुम्हारी तरफ़ इस क़द्र क्यों बढ़ता ?"

"बेशक, यह बहुत बड़ा सबूत है।"

मदिरा फिर कुल-कुल करती हुई गिरने लगी मुकुट के गिलास में।

"नलिनी !"

"हूँ।"

"जब तुम्हारे पास बैठता हूँ, नलिनी, तो मालूम होता है जैसे संसार का सारा वैभव मेरे पैरों पर लोट रहा है।"

"तुम्हें अपने पास पाकर मुझे भी किसी चीज़ की चाह नहीं रह जाती।"

'मेरे सिवा अपने दिल में किसी को जगह न देना—अरुण को भी नहीं।"

"यह कहने की ज़रूरत नहीं। तुम्हारे लिये मेरे पास सब-कुछ है, अरुण के लिये कुछ नहीं।"

"कितनी समझदार हो तुम ? धन्यवाद, हज़ार बार धन्यवाद !"

[३]

नवल अरुण का अनन्य मित्र है। अरुण के लिए उसके हृदय में गहरा अपनापन है, आदर है, सम्मान है। लेकिन इन दिनों वह अरुण से नाराज़ है। अपनी नाराज़गी वह अपने ही तक सीमित नहीं रख पाता। अक्सर अन्य मित्रों के सामने वह प्रकट हो जाती है।

"शंकर !"

"हाँ।"

"अरुण बुद्धू है।"

"बुद्धू ?" आश्चर्य से शंकर ने कहा।

"हाँ, बुद्धू—पूरा बुद्धू, पक्का बुद्धू," नवल ने ज़ोर देकर कहा।

"यह क्या कह रहे हो नवल ?"

"बिलकुल ठीक कह रहा हूँ।"

"नामी प्रोफ़ेसर है, अर्थ-शास्त्र का पंडित है, होश-हवास की

बातें करता है। और तुम कहते हो, बुद्धू है।"

"यह ख्याल ग़लत है कि विद्वान आदमी बुद्धू नहीं हो सकता।"

"कैसी बात कहते हो, नवल ? जो विद्वान है, वह बुद्धिमान है। बुद्धिमान आदमी बुद्धू कैसे हो सकते हैं ?"

"मनुष्य के चरित्र में बहुतेरे ऐसे स्थान होते हैं जहाँ बुद्धि का गुज़र नहीं हो पाता—"

"ख़ैर, अरुण में तुम्हें बुद्धूपन की कौनसी बात नज़र आई ?

"वह नलिनी के चक्कर में पड़ गया है !"

"नलिनी कौन है ?"

"ख़ूबसूरत बला ?"

शंकर हँस पड़ा।

"बला और ख़ूबसूरत ! निहायत ख़तरनाक !"

"इस क़दर ख़तरनाक कि एक बार उसके जाल में फँस कर कोई कभी नजात न पा सके।"

"और ?"

"एक नामी बैरिस्टर की विधवा, अमीर, रँगी गुड़िया।"

"और।"

"ऐश में डूबी रहने वाली, अपने में समाई रहने वाली, नैतिकता की परवा न करने वाली।"

"समाज यह सब जानता है।"

"जानता है, अच्छी तरह जानता है। फिर भी उसकी आव-भगत करता है।"

"ऐसा क्यों, नवल ? जान-बूझकर तो मक्खी नहीं निगली जाती ?"

"इसलिये कि उसके दामन में भी धब्बे हैं, और उन छिप न

सकने वाले धब्बों की उसे कोई परवाह नहीं रही।"

"यह सब अरुण भी जानता है ?"

"सारा शहर जानता है, तो यह असम्भव है कि वह न जानता हो ?"

"फिर भी वह उससे मिलता है ?"

"मिलता ही नहीं, जनाब, उसके इशारे पर नाचता है ।"

"बड़ी नासमझी की बात है।"

"इसीलिये तो कहता हूँ कि वह बुद्धू है, पक्का बुद्धू है।"

"मैं तो समझता था कि अरुण बड़ा चरित्रवान है !"

"उसके चरित्र पर तो मैं अब भी सन्देह नहीं करता। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि अगर वह समझदारी से काम न लेगा, तो उसका बुद्धूपन एक दिन उसे ले डूबेगा।"

"नलिनी से उसका परिचय कैसे हुआ ?"

"किसी बड़े घर की पार्टी में दोनों शरीक हुये थे। वहीं दोनों का परिचय हुआ। फिर अरुण नलिनी के घर आने-जाने लगा।"

"तुमने उसे समझाया नहीं, रोका नहीं ?"

"साफ़-साफ़ तो मैंने कुछ नहीं कहा, इशारे-इशारे में ज़रूर चेतावनी दी थी।"

"तब उसने क्या कहा ?"

"सुनी अनसुनी कर दी।"

"इशारों से जब काम न बने तो साफ़-साफ़ कहना चाहिये ! तुम उसके गहरे दोस्त हो। तुम्हारा फ़र्ज़ है कि उसे समझाओ, रोको।"

"समझदार आदमी जब खुद बुद्धू बनना चाहे, तो कोई उसे रोक

नहीं सकता। फिर वह नशा भी ऐसा है कि उसका कोई उतार नहीं है।"

"मतलब यह कि वह जाने और उसका काम जाने।"

"मैं इतना तटस्थ तो नहीं रहना चाहता, लेकिन जानता हूँ कि ठोकर खाए बिना उसे होश न आएगा।"

"ठीक कहते हो, नवल।"

लेकिन नवल की तबीयत नहीं मानी। दूसरे दिन सबेरे ही वह अरुणा के पास जा पहुँचा।

"अरुणा!"

"हाँ।"

"एक दिन मैंने इशारे में तुमसे एक बात कही थी। आज उसे साफ़-साफ कहना चाहता हूँ।"

"कहो।"

"नलिनी का साथ छोड़ दो।"

"क्यों?"

"इसलिये कि उसका साथ तुम्हारे लिये ठीक नहीं।"

"मुझे तो उस में कोई बुराई दिखाई नहीं देती।"

"इसलिए कि तुम्हारी नज़र सतह पर ही उलझी हुई है और नीचे नहीं उतरना चाहती।"

"नहीं, नवल, मेरी नज़र ऐसी छिछली नहीं है।"

"तुम समझते हो उसे?"

"हाँ, समझता हूँ, नवल।"

"क्या समझते हो?"

"वह भली है, लेकिन गुमराह।"

"तुम उसे ठीक रास्ते पर नहीं ला सकोगे।"

"सम्भव है, ऐसा ही हो।"

"जो कुछ तुम उससे चाहते हो वह नहीं पा सकोगे।"

"यह भी असम्भव नहीं है।"

"सख्त धोखा खाओगे।"

"ऐसा भी हो सकता है।"

"जब तुम्हें खुद शक है, तो उसका साथ छोड़ देने में तुम्हें एत-राज़ क्यों है ?"

"इसलिए कि मैं अपने दिल से मजबूर हूँ।"

"इन्सान का फ़र्ज़ है कि वह अपने दिल को काबू में रखे, उसे ग़लत रास्ते पर जाने से रोके।"

"अभी यह देखना बाक़ी है कि रास्ता ग़लत है या ठीक।"

"समझाना मेरा फ़र्ज़ है, मानना या न मानना तुम्हारा काम। नहीं मानते तो न मानो। तुम जानो, तुम्हारा काम जाने।"

"नराज़ हो गये, नवल ?"

"नहीं।"

"मैं तुम्हारी दोस्ती की क़द्र करता हूँ, और चाहता हूँ कि यह हमेशा इसी तरह क़ायम रहे।"

"दोस्ती तो क़ायम ही रहेगी, चाहे जो कुछ हो"

नवल चला गया। अरुण विचारों में डूब गया। नलिनी की संगति क्या सचमुच वाञ्छनीय नहीं ? वह एक स्वतंत्र स्त्री है, और एक स्वतंत्र स्त्री की तरह रहती है। पुरुषों से स्वतंत्रतापूर्वक मिलती है। इस से अधिक कुछ नहीं। कम से कम उसकी जानकारी में तो इस से अधिक कोई बात नहीं आई। फिर भी लोग कहते हैं, उसकी संगति वांछनीय नहीं। आधुनिकता के इस युग में इस बात की आशा करना कि स्त्री और पुरुष स्वतंत्रतापूर्वक न मिलें, सर्वथा निरर्थक है। समय की प्रगति को कोई रोक नहीं सकता। और

चरित्र ? चरित्र की रक्षा तो हर दशा से होनी चाहिए। छोड़ सकता है वह नलिनी का साथ ? नहीं, किसी तरह नहीं ! यही है शायद लोगों की नज़र में उसकी बेवकूफ़ी ! होगी, इसकी चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं। हर आदमी को दूसरे में कोई न कोई ऐब, कोई न कोई बेवकूफ़ी ज़रूर दिखाई देती है। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है। नलिनी ! कितनी खूबसूरत, कितनी प्यारी लगती है नलिनी ! एक ही बुराई उस में है, और वह यह है कि वह मुकुट से मिलती है। क्या देखती है नलिनी मुकुट में ? उसे तो उसमें कोई विशेषता, कोई अच्छाई दिखाई नहीं देती। कौन है मुकुट ? वह अजनबी है इस नगर के लिये। कोई उसके सम्बन्ध में ठीक तौर पर कुछ नहीं जानता है। वह कहता है कि वह एक प्रतिष्ठित परिवार का सदस्य है और व्यापार करता है। लेकिन उसके कथन की सत्यता का कोई प्रमाण अभी तक देखने में नहीं आया। नलिनी का उससे मिलना ठीक नहीं। उसे वह अच्छा आदमी नहीं मालूम होता। लेकिन क्या यह सम्भव नहीं कि ईर्ष्या के कारण उसकी ऐसी धारणा हो ? सम्भव है ऐसा ही हो।

और उसी दिन माँ ने वह बात छेड़ी, जिसे वह अक्सर छेड़ देती हैं।

"अरुण !"

"हाँ !"

"इस तरह कब तक काम चलेगा, बेटा ?"

"किस तरह, माँ ?"

"तीस साल के हो गये, और अभी तक कुँआरे हो। क्या उम्र-भर कुँआरे बने रहने का इरादा है ?"

अरुण हँस पड़ा।

"जब तुम मुझ से शादी कर लेने की ज़िद करती हो, माँ, तो एक बात का ख्याल नहीं करतीं।

"किस बात का ?"

"अपने अधिकार का।",

"कैसा अधिकार ?"

"आज मेरे ऊपर तुम्हें जितना अधिकार है उतना तब नहीं रहेगा, जब घर में बहू आ जायगी।"

माँ हँस पड़ीं।

"तुम बड़े पागल हो, अरुण ! आज भी तुम में वैसी ही नासमझी भरी हुई है जैसी तब थी जब तुम नन्हें से बच्चे थे। माता का हृदय ऐसा स्वार्थी नहीं होता, बेटा, कि वह अपने अधिकार की रक्षा के लिए अपने बच्चे को सुख से वंचित रखना चाहे। मुझे अपने अधिकार की कोई चिन्ता नहीं है। मैं तो उस दिन की राह देख रही हूँ जब इस घर में भी एक सुन्दर, सुशीला बहू आ जायगी, और मैं उसे सब कुछ सौंपकर एकमात्र भगवान् की आराधना में मन लगा सकूँगी।"

"तुम्हारी ऐसी इच्छा है, तो ऐसा ही होगा।"

"कब होगा ?"

"जल्द ही होगा !"

"तुम तो हमेशा टालने वाली बात कह देते हो। नहीं, बेटा, अब मत टालो। मेरी ज़िन्दगी का अब कोई ठिकाना नहीं, काफ़ी बूढ़ी हो गई हूँ। मेरी आँखों के सामने तुम्हारी गृहस्थी जम जायगी तो शान्ति से मरूँगी और परलोक में भी मेरी आत्मा शान्त रहेगी।"

"नहीं, माँ, विश्वास करो, तुम्हारी इच्छा अब बहुत दिनों तक

टलती न रहेगी।"

माँ चली गईं।

इस तरह कब तक टालता रहेगा वह इस महत्वपूर्ण प्रश्न को? माँ चिन्तित हैं। उनका चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। आखिर वह कब तक उसकी गृहस्थी सँभालें? यह असंभव है कि वह मौजूद रहें और घर की देख-रेख न करें, उसे आराम पहुँचाने का प्रयत्न न करें। और फिर प्रत्येक माता की यह इच्छा सर्वथा स्वाभाविक है कि उसकी आँखों के सामने उसके लड़के का घर बस जाय। लेकिन वह कैसे करे विवाह? विवाह का वह विरोधी नहीं, किन्तु वह तो उसी स्त्री से विवाह कर सकता है, जिसे उसका मन अंगीकार कर ले, आत्मा अपना ले। नलिनी? कोई आशा नहीं नलिनी से। फिर भी देखना तो अवश्य ही चाहिये!

[४]

"नलिनी!" दो क्षण निस्तब्ध रह कर मुकुट ने कहा।

"हाँ।"

"अब मुझे यहाँ से जाना पड़ेगा।"

"कहाँ जाना पड़ेगा?"

"बम्बई।"

"तुम तो कहते थे कि काम के सिल-सिले से यहाँ आये हो और अभी काफ़ी अर्से तक यहाँ रहोगे!"

"ख़्याल तो मेरा यही था। लेकिन यहाँ का काम ख़त्म हो गया और अब बम्बई में मेरी ज़रूरत है।"

"यह तो तुमने बड़ी ख़राब ख़बर सुनाई।"

"सच कहता हूँ, नलिनी, मुझे यहाँ से जाने की ज़रा भी इच्छा नहीं है, लेकिन मैं मजबूर हूँ।"

"किसी तरह नहीं रुक सकोगे।"

"नहीं।"

"तब मैं भी तुम्हारे साथ साथ चलूँगी।"

"इससे बढ़कर कौन सी बात हो सकती है। मैं खुद यह प्रस्ताव करना चाहता था, लेकिन डर रहा था कि शायद तुम इसे पसन्द न करो।"

"डर की तो इसमें कोई बात नहीं। जब हमने एक दूसरे को पहिचान लिया है और हम इस क़दर आगे बढ़ गये हैं, तो यह स्वाभाविक ही है कि हम बराबर एक दूसरे के साथ रहना चाहें।"

"सच कहता हूँ, नलिनी, मुझे तो लगता है कि तुम्हारे बिना मैं एक दिन भी नहीं रह सकता।"

"मैं भी यही अनुभव करती हूँ।"

"जल्द ही हम दोनों पूरी तरह एक हो जायँगे। तब दुनिया की कोई ताक़त हमें कभी एक दूसरे से अलग न कर सकेगी।"

"यही मेरी भी कामना है, मुकुट!"

"जीवन के कंकरीले रास्ते पर हम एक दूसरे का सहारा लेते चलते जायँगे, चलते जायँगे।"

"और जब सफ़र ख़त्म होगा, तो हम एक साथ सो जायँगे दो थके, माँदे, मासूम बच्चों की तरह।"

मुकुट चला गया आध घंटे के बाद। स्वप्नों का ताना-बाना बुनती देर तक बैठी रही नलिनी। फिर वह सो गई।

संध्या के समय अरुण हाज़िर हुआ।

"नलिनी?"

"हाँ।"

"शायद तुम यह जानती हो कि मैं तुम्हारे पास क्यों आता हूँ।"

"जानती हूँ।"

"मेरे दिल में तुम्हारे लिये जो कुछ है वह शायद तुम्हारे दिल में मेरे लिये नहीं है।"

"बहुत न सही, कुछ न कुछ तो है ही।"

"आज तुम से एक सीधा सवाल करने आया हूँ।"

"करो।"

"मेरी जीवन-सङ्गिनी बन सकोगी, नलिनी ?"

"माफ़ करो, अरुण, यह असम्भव है।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि मुकुट को वचन दे चुकी हूँ।"

"वचन दे चुकी हूँ।"

"हाँ, वचन दे चुकी हूँ।"

"तो मेरे लिए कोई आशा नहीं ?"

"माफ़ करो, अरुण ! मुझे बड़ा अफ़सोस है।"

दीर्घ निःश्वास खींचकर, अरुण फ़र्श की ओर ताकने लगा।

"अरुण !"

"हाँ।"

"मैं बम्बई जा रही हूँ।"

"बम्बई क्यों जा रही हो ?"

"यों ही। सैर के ख़्याल से।

"किसके साथ जा रही हो ?"

"मुकुट के साथ।"

"तुम धोखे में हो, नलिनी। मुकुट से तुम्हें वह सब नहीं मिल सकता जो तुम चाहती हो।"

"शायद ईर्ष्या के कारण तुम ऐसा कह रहे हो ?"

"यही समझ लो। अच्छा नमस्ते! वह उठ खड़ा हुआ।

"नाराज़ हो गए, अरुण?"

"नहीं तो।"

"तब इतनी जल्दी क्यों चले जा रहे हो?"

"एक ज़रूरी काम है।"

"तुम्हारी बात नहीं मान सकी, अरुण, लेकिन मैं चाहती हूँ कि तुम मुझ से घृणा न करो, मेरे मित्र बने रहो।"

"मैं भी यही चाहता हूँ।"

"कल सवेरे हम जा रहे हैं। स्टेशन तक पहुँचाने चलना।"

"हो सका तो चलूँगा।"

चला गया अरुण नैराश्य लिए हुए।

दूसरे दिन प्रातःकाल नलिनी मुकुट के साथ बम्बई चली गई। अरुण उसे स्टेशन तक पहुँचाने नहीं जा सका।

[५]

दो मास व्यतीत हो चुके हैं। अरुण को अभी तक नलिनी की कोई ख़बर नहीं मिली। उसकी चिन्ता उसे सताती रहती है, उसका ख़्याल उसे तङ्ग करता रहता है। लेकिन प्रतिक्रिया का सूत्रपात अब हो चला है। विद्रोह का भाव अब रह-रह कर उठ खड़ा होता है उसके मन में। जो उसे अपना नहीं समझ सकी, उसे वह अपनी क्यों समझे? जो उसे ठुकरा कर, कुचल कर चली गई, उसके ख़्याल में डूबा रह कर वह अपना जीवन क्यों नष्ट करे? नहीं, उसे अब उससे कोई सरोकार न रखना चाहिए, उसे भूल जाना चाहिए। मन इस भाव का विरोध करता, ज़ोरों से विरोध करता, लेकिन अब उसके विरोध में पहले की सी शक्ति नहीं रह गई थी।

एक दिन माँ ने फिर तकाज़ा किया।

"क्या तय किया, बेटा ?"

"किसके बारे में ?"

"शादी के बारे में।"

"वह तो तय ही है। शादी करूँगा।"

"कब करोगे ?"

"जल्द ही।"

"दो महीने पहले भी तुमने यही कहा था।"

"नहीं, माँ, अब बहुत देर नहीं लगेगी, इतमीनान रखो।"

माँ चली गईं। अरुण विचार करता रहा बड़ी देर तक।

दूसरे दिन सवेरे ही नवल आ उपस्थित हुआ।

"क्या हाल है, अरुण ?" आते ही पूछा।

"ठीक है।"

"ख़ब्त दूर हो गया या अभी तक सिर पर सवार है ?"

"अभी तक सवार है।"

"उतार फेको उसे।"

"कोशिश तो कर रहा हूँ, लेकिन कामयाब नहीं हो रहा हूँ।"

"मेरी सलाह मानो तो काम बन जाय।"

"क्या है तुम्हारी सलाह ?"

"शादी कर लो, यार। शादी कर लेने पर ग़म दूर हो जायगा और तुम उस बेवफ़ा को आसानी से भूल सकोगे।"

"ठीक कहते हो, नवल।"

नवल चला गया थोड़ी देर के बाद।

माँ शादी कर लेने की ज़िद कर रही हैं, नवल भी शादी कर लेने की सलाह दे रहा है, बुद्धि भी यही कह रही है। अब उसे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए उस बेवफ़ा से, भूल जाना

चाहिए उसे। शादी कर लेनी चाहिए, अवश्य कर लेनी चाहिए। कोई दूसरा इलाज नहीं है उसके मर्ज़ का।

[६]

नलिनी और मुकुट बम्बई के एक प्रसिद्ध होटल में ठहरे हुए हैं। दिन रङ्गरलियों में व्यतीत हो रहे हैं। वे घुल-मिल रहे हैं वैभव-सम्पन्न उच्च समाज में। बस, एक ही खटक बाक़ी रह गई है।

"अब हमें शादी कर लेनी चाहिए, मुकुट," एक दिन नलिनी ने कहा। "लोग कानाफूसी कर रहे हैं। बदनामी हो रही है।"

"हाँ, अब शादी कर लेनी चाहिए। इस तरह अब रहना ठीक नहीं! आज ही दरख़्वास्त दे दूँगा। एक पखवारे के अन्दर शादी हो जायगी।"

"ज़रूर दे दो दरख़्वास्त।"

"नलिनी?" दो क्षण निस्तब्ध रहकर मुकुट ने कहा।

"हाँ।"

"एक बात कहना चाहता हूँ?"

"कहो।"

"संकोच हो रहा है।"

"संकोच क्यों हो रहा है? क्या हम लोगों के बीच कोई परदा है?"

"परदा तो नहीं है।"

"तो फिर कहो न!"

"रुपयों की ज़रूरत है।"

"कितने रुपयों की?"

"दस हज़ार की।"

"दस हज़ार? इतने रुपये क्या होंगे?"

"व्यापार के लिए ज़रूरत है। एक सौदा तय किया है। इस समय दस हज़ार लगा देने पर एक सप्ताह के बाद साठ हज़ार रुपये मिल जायँगे।"

"तुम्हें जब तन, मन सौंप चुकी हूँ, तो धन भी देने में मुझे क्या एतराज़ हो सकता है ? बस, सिर्फ़ इतना चाहती हूँ कि रुपये बर्बाद न हों।"

"बर्बाद नहीं होंगे, नलिनी, इतमीनान रखो।"

नलिनी ने तुरन्त चेक लिख दिया। मुकुट चला गया चेक लेकर।

दिन में वह वापस नहीं आया। रात में भी वह नहीं लौटा। दूसरा दिन भी बीतने को आया, लेकिन मुकुट वापस नहीं आया। नलिनी बेहद घबरा उठी। उसने इधर-उधर पूछ-ताछ की, पुलीस की सहायता माँगी। लेकिन कोई नतीजा नहीं हुआ, मुकुट का पता नहीं लगा।

तीसरे दिन दोपहर के समय एक पत्र मिला।

"नलिनी,

मैं इंगलैण्ड जा रहा हूँ। जब तक तुम्हें यह ख़त मिलेगा, तब तक मेरा जहाज़ इस बन्दरगाह से रवाना हो चुका होगा। मुझे खोजने की कोशिश फ़िज़ूल होगी। पुलीस भी मेरा पता नहीं लगा सकेगी, क्योंकि वेष बदलने की कला में मुझे कमाल हासिल है। इस फ़न में मैं इतना माहिर हूँ कि अब अगर मैं तुम्हारे सामने आऊँ, तो तुम मुझे किसी तरह पहिचान न सकोगी। जो कुछ मुझे तुम से लेना था वह मैं ले चुका। अब मुझे तुम से कुछ नहीं चाहिए। मेरी तरफ़ से अपने को पूरी तरह आज़ाद समझो। ईश्वर को धन्यवाद दो कि तुम मेरे पंजे से इतनी जल्दी और सस्ती

छूट गई। मुझे दोष देना फ़िजूल है, क्योंकि यह तुम्हारी ही ग़लती है कि तुम मुझे पहिचान नहीं सकीं, समझ नहीं सकीं। उस शख्स को भी तुम नहीं पहचान सकीं, जो सचमुच तुम्हारे ऊपर जान देता था और तुम्हारे लिए सब कुछ करने को तैयार था। मेरा इशारा अरुण की तरफ़ है। सचमुच तुम बड़ी बेवकूफ़ हो, नलिनी! घर वापस जाओ और अपने को सुधारो, वर्ना फिर धोखा खाओगी और कुछ दिनों के बाद कहीं की न रहोगी। बस!

—मुकुट बिहारी।"

नलिनी ने सिर पीट लिया। लुच्चा! शोहदा! गुंडा! लूट लिया, कहीं का न रखा बदमाश ने! ओफ़! हे ईश्वर!

[७]

निश्चय पक्का हो गया। अरुण ने उसी दिन समाचार-पत्रों में विज्ञापन भेज दिया। उसका चित्त तो प्रसन्न नहीं था, लेकिन न जाने क्यों उसे विचित्र शान्ति अनुभव होने लगी।

सन्ध्या हो गई थी। अरुण अपने पुस्तकालय में बैठा हुआ एक समाचार-पत्र देख रहा था। एकाएक टेलीफ़ोन की घण्टी बज उठी। आरामकुरसी छोड़ कर मेज़ पर जाकर उसने रिसीवर उठाया।

"हलो! कौन साहब हैं?" उसने प्रश्न किया!

"मैं हूँ—नलिनी!" टेलीफ़ोन के दूसरे सिरे से आवाज़ आई।

"नलिनी!"

"हाँ, नलिनी।"

"कहाँ से बोल रही हो?"

"बम्बई से।"

"कहो।"

"मैं लुट गई, अरुण।" रुआँसी आवाज़ में नलिनी ने कहा।

"तुम्हारी बात सच निकली। मुकुट धोखेबाज़ निकला। मेरे दस हज़ार रुपये लेकर वह चम्पत हो गया।"

"अच्छा!"

"हाँ।"

"तो मैं क्या करूँ?"

"फ़ौरन यहाँ आ जाओ। मुझे तुम्हारी सख्त ज़रूरत है।

"माफ़ करो, मैं नहीं आ सकता।"

"क्यों?"

"मुझे फ़ुर्सत नहीं है।"

"यह क्या सुन रही हूँ, अरुण? तुम पहले तो ऐसी बातें नहीं करते थे?"

"पहले का समय अब लद गया, नलिनी।"

"तो क्या मेरी तरफ़ से तुम्हारा दिल फिर गया?"

"बिलकुल।"

"ऐसी बात मत कहो, अरुण! मेरा दिल बैठा जा रहा है। आ जाओ, अरुण। प्यारे अरुण, अच्छे अरुण!"

अरुण ने रिसीवर खट से रख दिया।

लुट गई! अच्छा हुआ, लुट गई! कहती है, फ़ौरन आ जाओ, मुझे तुम्हारी सख्त ज़रूरत है! जैसे वह उसका गुलाम हो! भाड़ में जाय! अब उसे उसकी कोई परवाह नहीं। बहुत दिनों तक वह बेवकूफ़ बन चुका, अब आगे नहीं बनेगा। दूसरे को बेवकूफ़ बनाने वाली खुद बेवकूफ़ बन गई! वाह!

चार घंटे के बाद एक तार भी आ पहुँचा।

"कल रात को पहुँच रही हूँ। स्टेशन पर मिलना।—नलिनी।"

तार भेजा है रानी साहिबा ने। जैसे उसे इस बात की बड़ी भारी चिन्ता है कि हुज़ूर तशरीफ़ ला रही हैं या नहीं! आया करें। रोज़ हज़ारों आदमी इस शहर में आते हैं। उसके आगमन की ख़बर से उसे उतना ही मतलब है जितना और लोगों के आगमन की ख़बर से हो सकता है। 'स्टेशन पर मिलना।' यानी स्टेशन पर मेरा सम्मानपूर्वक स्वागत करने के लिये तैयार खड़े रहना! मुँह धो रखे! उसकी बला जाय उसका स्वागत करने। ख़ुदग़रज़, संगदिल, बेवफ़ा! अब वह उससे कोई सरोकार रखना नहीं चाहता। उसने उसे निकाल दिया अपने दिल से!

तीसरे दिन तड़के ही टेलीफ़ोन की घंटी फिर बज उठी। अरुण उस समय अपने बँगले में घास पर टहल रहा था। नौकर ने सूचना दी। पुस्तकालय में जाकर अरुण ने रिसीवर उठाया।

"हलो! कौन साहब बोल रहे हैं।"

"मैं बोल रही हूँ—नलिनी।"

"नलिनी!"

"हाँ, नलिनी।"

"कहाँ से बोल रही हो?"

"अपने घर से बोल रही हूँ। रात में बम्बई से वापस आगई। स्टेशन पर तुम नहीं आये।"

"हाँ, नहीं आ सका। फ़ुर्सत नहीं मिली।"

"फ़ुर्सत नहीं मिली। पहले तो तुम्हें बड़ी आसानी से फ़ुर्सत मिल जाया करती थी।"

"वह ज़माना और था।"

"चन्द महीनों के अन्दर ज़माना इस क़दर बदल गया?"

"यह तो ज़ाहिर ही है"

"तुम इतने कठोर कैसे बन गये, अरुण ?"

"यह अपने दिल से पूछो।"

"मुझे सख्त अफ़सोस है।"

"ठीक है।"

"ज़रा देर के लिये मेरे पास आ जाओ, अरुण।"

"यह नहीं हो सकता, माफ़ करो।"

"मुझे तुम्हारी ज़रूरत है।"

"मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

"मैं मजबूर हूँ।"

"आखिर तुम मेरे पास क्यों नहीं आना चाहते, अरुण ?"

"इसलिए कि मुझे फ़ुर्सत नहीं है।"

"फ़ुर्सत ! फ़ुर्सत ! बस वही फ़ुर्सत न होने की रट !"

"एक और वजह भी है।"

"वह क्या है ?"

"तुम्हारे पास आऊँगा, तो बदनाम हो जाऊँगा।"

"बदनाम हो जाओगे ?"

"हाँ, बदनाम हो जाऊँगा।"

"मैं इस क़दर गई-गुज़री हो गई ?"

"सत्य, सत्य है। सत्य पर परदा डालने का साहस मैं नहीं कर सकता।"

"हे ईश्वर !"

"पहले परवाह नहीं करता था, लेकिन अब बदनामी से डरने लगा हूँ। बात यह है कि मैं अब अपनी शादी करने जा रहा हूँ। अगर बदनाम हो जाऊँगा, तो कोई शरीफ़ लड़की मुझ से शादी करना पसन्द न करेगी।"

"शादी करने जा रहे हो ?"

"हाँ।"

"कब ?"

"बहुत जल्द।"

"मेरा जी घबरा रहा है, दिल डूबा जा रहा है। मेहरबानी करके, दया करके मेरे पास दस मिनट के लिए आ जाओ, अरुण !"

"यह नहीं हो सकता, माफ़ करो।"

अरुण !" करुण स्वर में नलिनी चीख़ उठी।

अरुण ने रिसीवर रख दिया।

बीस मिनट बीते। एक कार बँगले में आ रुकी।

नलिनी ने प्रवेश किया पुस्तकालय में दो मिनट के बाद।

"अरुण !"

"कहो ?"

"तुमने मेरे घर आना ठीक नहीं समझा, इसलिए मैं खुद तुम्हारे घर चली आई।"

"बड़ी कृपा की ! मेरा घर पवित्र हो गया !"

"एक जीवन-सङ्गी के बिना इस संसार में किसी स्त्री का काम नहीं चल सकता। मेरे जीवन-सङ्गी बन जाओ, अरुण।"

"यह असम्भव है। मुझे माफ़ करो।"

"मेरा जीवन आश्रयहीन है, अरुण। उसे आश्रय दो। हाथ जोड़कर, आँचल पसार कर बिनती करती हूँ !"

"मैं मजबूर हूँ, माफ़ करो !"

"तुम्हारे इशारे पर चलूँगी, तुम्हारी दासी बन कर रहूँगी। मुझे ग्रहण करो, अरुण।"

"अब यह नहीं हो सकता ! मुझे माफ़ करो !"

नलिनी रोने लगी चीख़ चीख़ कर।

"मत रोओ, नलिनी। रोना तुम्हें शोभा नहीं देता।

नलिनी रोती रही उसी तरह।

"रोना बन्द करो, नलिनी, रोने की कोई बात नहीं।"

रोना बन्द नहीं किया नलिनी ने।

"मत रोओ, नलिनी। तुम्हारे आँसू मैं नहीं देख सकता।"

"तो कह दो कि मेरी बात तुम्हें मंजूर है। रुआँसी आवाज़ में नलिनी ने कहा।

"लो, बाबा, तुम्हारी बात मुझे मंजूर है। अब आँखें पोंछ डालो और खुश हो जाओ।"

नलिनी ने आँखें पोंछ डालीं। फिर वह हँस पड़ी।

"बड़े कट्टर हो गए हो!"

"इतना कट्टर न बनता, तो तुम काहे को पिघलतीं!"

दोनों हँसने लगे।

नलिनी को साथ लिए हुए अरुण घर के भीतर गया।

"माँ!"

"क्या है, बेटा?"

"लो, देखो; तुम्हारी इच्छा पूरी हो गई। बहू घर आ गई।"

"अच्छा!"

"हाँ, देखो न।"

"अहा! कितनी सुन्दर है बहू! घर जगमगा उठा!"

"माँ के पैर छुओ, नलिनी।"

तब फ़र्श पर बैठकर नलिनी ने माँ के पैर छुए।"

"खुश रहो, फूलो-फलो, सौभाग्यवती हो!" गद्गद कण्ठ से माँ ने आशीर्वाद दिया।

जीवन की गति

नदी में बाढ़ आ गई थी। इधर-उधर मीलों तक जल-राशि का विस्तार था। एक तट से दूसरा तट दृष्टिगोचर नहीं होता था।

श्रावण की सुहावनी सन्ध्या थी। आकाश में घटायें उमड़ रही थीं। पश्चिम में अस्त होते हुए सूर्य की रश्मियाँ बादलों को भाँति-भाँति के रङ्गों में रँग रही थीं। शीतल, मन्द समीर बह रहा था। वायुमण्डल में वह विचित्र ध्वनियाँ गूँज रही थीं, जो केवल नदी-तट पर और वर्षा-ऋतु में सुनने को मिलती हैं और जो एक विचित्र ताल और लय में बँधी जान पड़ती हैं। गङ्गा-तट के उस समस्त वातावरण में एक अजीब मस्ती थिरक रही थी, जो सम्पर्क में आने वाले समस्त जीवों को अपने रङ्ग में रँग लेना चाहती थी। अजीब समाँ छाया था चारों ओर।

मस्ती से झूमती हुई एक डोंगी धीरे-धीरे बढ़ रही थी धारा की ओर। एक युवती थी उसपर और एक युवक। युवक डाँड़ चला रहा था, युवती एक ओर मूर्तिवत् बैठी थी। अकथनीय उल्लास फूटा पड़ रहा था युवक के चेहरे से, गाम्भीर्य व्यक्त था युवती के मुखमंडल

पर। दोनों मौन थे। युवक जैसे कोई निधि पा गया हो, युवती जैसे कोई मार्ग खोज रही हो।

धारा सामने आ गई। हर-हर करता हुआ जल तीव्र गति से बहा जा रहा था।

"बस, तैयार हो जाओ, कृष्णा," युवक ने आह्लादपूर्ण स्वर में कहा—"दो चक्कर देकर नाव को धारा में डाल दूँगा, और बेड़ा पार हो जायगा।"

"नहीं, दिनेश, नहीं," युवती चिल्ला पड़ी—"वापस चलो।"

"यह क्या कह रही हो, कृष्णा? पीछे नरक आगे स्वर्ग।"

"स्वर्ग मुझे नहीं चाहिए, दिनेश। मुझे नरक ही में रहने दो। मेरा समाज, मेरे माता-पिता, मेरी सखियाँ मुझे बुला रही हैं। इन सब से मैं नाता नहीं तोड़ सकती।"

"साहस से काम लो, कृष्णा।"

"साहस मुझ में नहीं है दिनेश। जिसे साहस समझती थी, वह केवल भ्रम था। मुझे खेद है, किन्तु मैं विवश हूँ।"

"कृष्णा!......कृष्णा!"

"नहीं......नहीं!"

"अन्तिम निश्चय है तुम्हारा?"

"अन्तिम।"

सिर झुका कर, युवक नाव फेरने लगा। उतर गया उसका चेहरा। शान्ति की साँस लेकर, मुख फेरकर, युवती दूसरी ओर देखने लगी।

तट आ गया। डोंगी किनारे लगी। उतर कर सहारा देकर युवक ने युवती को उतारा। सिर झुकाए हुए युवती सड़क की ओर चली गई। दीर्घ-निश्वास खींचकर युवक दूसरी ओर चला गया।

कृष्णा सड़क पर पहुँची। सामने उसकी कार खड़ी हुई थी। शोफ़र ने कार का दरवाज़ा खोलकर पूछा—"कहाँ चलना होगा, बीबी जी ?"

"घर।" कार में बैठ कर कृष्णा ने उत्तर दिया।

दरवाज़ा बन्द कर के शोफर अपनी सीट पर जा बैठा। कार चल पड़ी।

परस्पर-विरोधी भावनाओं का ताण्डव-नृत्य छिड़ा था कृष्णा के मस्तिष्क में। आज इस तरह वह नाता तोड़ आयी उस सुन्दर, स्वर्गीय सम्बन्ध से, जिसका वह दम भरती थी और जिसमें उसे अपने अस्तित्व की सार्थकता दृष्टिगोचर होती थी। सूना-सूना सा लग रहा था उसे इस समय चारों ओर। निस्सन्देह, उसका खो गया बहुत कुछ—शायद सब कुछ। किन्तु क्या उसने खोया ही सब कुछ, पाया कुछ नहीं ? क्या पाया उसने ? एक विकट सङ्कट से मुक्ति ? सङ्कट से मुक्ति ! बेशक पायी है उसने मुक्ति—ऐसी मुक्ति, जो अन्य सङ्कटों की अग्र-दूती सिद्ध हो सकती है। बन गई आज उस के आदर्शों की, आशाओं की, अरमानों की समाधि और उस पर खड़ी हुई वह शान्ति की साँस ले रही है। कैसा भयानक पतन है यह ! क्या है, क्यों है यह जीवन ? अनवरत गति से चलती हुई, सुख-दुःख से भरी घड़ियों का एक समूह, कुछ बनने और कुछ बनाने के लिए। कहाँ रही अब सुख की आशा, क्या बन या बना सकेगी अब वह ? अनुकूल वातावरण में मनुष्य का व्यक्तित्व फूलता-फलता है, विकसित होता है, प्रतिकूल परिस्थिति में उसका दम घुट जाता है। कहाँ है अनुकूल वातावरण, आशा भी कहाँ है उसके अनुकूल हो सकने की ? घुटा जा रहा है उसके व्यक्तित्व का दम। पहाड़ से

दिन अब सामने हैं उसके, भयावनी रातें। अन्य साधारण स्त्रियों की तरह अब कुढ़-कुढ़ कर जियेगी वह भी। क्या मिलेगा उसे इस तरह जीकर ? किन्तु उचित नहीं था वह तो। अपनी इच्छा से वह नहीं आयी इस संसार में। फिर उसे अधिकार कहाँ है अपनी इच्छानुसार यहाँ से विदा होने का ? ठीक हो सकता है यह। किन्तु अन्य मार्ग भी तो थे। वह कह सकती थी अपने समाज से, अपने माता-पिता से कि अपनी इच्छा-अनिच्छा, अपने व्यक्तित्व की स्वामिनी वह स्वयं है। अपने समाज से विदा लेकर, दिनेश के साथ किसी दूरस्थ स्थान में जाकर वह घर बसा सकती थी। यह सब भी नहीं कर सकी वह। कितनी हीन है वह ! नितान्त अभाव है उस में साहस का। बिना साहस के मनुष्य विद्रोह नहीं कर सकता और बिना विद्रोह के प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। दिनेश ! पागल दिनेश ! कितना महान है वह ! कैसा विकट पुरुषार्थ है उसमें ! कितना चाहता था वह उसे ! अपने प्राणों की आहुति देने को वह तैयार था उसे पाने के लिए। वह भी चाहती थी उसे, जी-जान से चाहती थी। अब भी वह चाहती है उसे उसी तरह। अब क्या करेगा दिनेश ! निरानन्द जीवन है अब उसके सामने भी।

झर-झर गिरने लगे उसकी आँखों से आँसू। बिलखने लगा उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व।

कार प्रवेश करने लगी बँगले में। सँभल कर आँखें पोंछने लगी कृष्णा रूमाल से।

[२]

ठगा-सा, विक्षिप्त-सा चला जा रहा था दिनेश ! आज इस

तरह समाप्त हो गया खेल—वह खेल, जिसे जीतने के लिए उसने अपने प्राणों की बाजी लगादी थी। अस्वीकृत होगयी उसकी बाजी। कच्ची निकली कृष्णा। किसी बात पर वह जम नहीं सकी। दृढ़ता का, साहस का अभाव है उसके चरित्र में। वह प्यार कर सकती है किन्तु प्यार के लिए कोई बलिदान नहीं कर सकती। क्या मूल्य है ऐसे प्रेम का ? टिक भी नहीं सकता ऐसा प्रेम। साधारण आघात भी वह सह नहीं सकता। वह प्रेम नहीं प्रेम का उपहास-मात्र है। प्रेम तो होता है पर्वत के समान अटल, सागर के समान अथाह। कोई बाधा उसे डिगा नहीं सकती। किन्तु यह सब क्या कलाकारों की कोरी कल्पना नहीं है ? प्रेम का वास्तविक रूप वही तो नहीं है, जिसकी झलक उसे कृष्णा में मिली है। नहीं ऐसा नहीं हो सकता। यदि यह बात होती, तो वह उसे इस हद तक आन्दोलित न कर पाता। क्या मिला उसे इस मार्ग पर चल कर ? वेदना, व्यथा, अशान्ति, विकलता ! काश, इससे वह दूर ही रहता ! किन्तु यह मनुष्य के वश की बात कहाँ ? निमन्त्रण दे कर इसे कोई बुला नहीं सकता। स्वयं आकर यह कब्ज़ा जमा लेता है, और मनुष्य को इसका तब ज्ञान होता है, जब वह पूरी तरह इसके जाल में फँस जाता है। दुर्दमनीय रोग है यह, पागलपन है, मूर्खता है। मूर्खता ? कहा नहीं जा सकता। विवेक से जो परे है, उसे तर्क के माप-दण्ड पर चढ़ाना उचित नहीं। जो हो, यह अनधिकार चेष्टा थी उसकी। झोंपड़े में रह कर महलों का स्वप्न देखना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। कितना अन्तर है उसकी और कृष्णा की सामाजिक स्थिति में। कृष्णा है अमीरजादी, और वह है एक गरीब परिवार का लड़का। अनधिकार चेष्टा ! महलों का स्वप्न ! अनधिकार चेष्टा कह देने ही से कोई चेष्टा अनुचित सिद्ध नहीं हो जाती। झोंपड़े में

रहकर महलों का स्वप्न देखने वाला समुचित प्रयास के द्वारा एक दिन महल में पहुँच भी जाता है। यदि वह साहस से काम न लेता, तो एण्ट्रेन्स की परीक्षा के बाद ही उस की पढ़ाई समाप्त हो जाती। उसे आगे पढ़ा सकने का सामर्थ्य उसके पिता में नहीं था। उसने अपने पैरों पर खड़ा होना सीखा, बराबर पढ़ता गया, और एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। आज भी वह अपने ही ऊपर निर्भर है, और अपने परिवार की भी यथेष्ट सहायता करता है। उज्ज्वल भविष्य उसके सामने है। किन्तु, क्या करेगा वह उस उज्ज्वल भविष्य को लेकर? उसकी सारी आकांक्षायें, लालसायें, आशायें केन्द्रित हो गयी थीं केवल एक चेष्टा में। मृत्यु का आवाहन भी उसने किया था उसकी पूर्ति के निमित्त। किन्तु, निष्फल हो गयी वह चेष्टा। उजड़ गया सुन्दर स्वप्नों का संसार। सघन अन्धकार अब आच्छादित है चारों ओर। मार्ग सूझता नहीं।

कितने ही मैदान, सड़कें और गलियाँ खिसक गयीं उसके पैरों के नीचे से। स्वयं चलते जा रहे थे उसके पैर। कुछ नहीं देख रही थीं उसकी खुली हुई आँखें। विचार चल रहे थे, चलते जा रहे थे उसके उत्तेजित मस्तिष्क में।

अब क्या करेगा वह? आत्म-हत्या? नहीं, महत्त्व अब नहीं रहा आत्म-हत्या का। वह तो दिव्य सोपान था चिर-मिलन के स्वर्गिक लोक का। उसके लिए नहीं है वह लोक। उसके लिए तो है यही नीरस, शुष्क जीवन, यही नीरस, शुष्क संसार। वह लड़ा अपने भाग्य से, किन्तु पराजित होना पड़ा उसे। विधि के विधान को कोई पलट नहीं सकता। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। सत्य नहीं है यह सिद्धान्त। कम से कम उसका अनुभव तो यही कहता है। कदाचित्त सफलता-जनित अहम्मन्यता की प्रेरणा से

अथवा विधाता के प्रति विद्रोह की असन्तोष-जनित भावना से उक्त सिद्धान्त का जन्म हुआ था। जो हो, जो कुछ उसने देखा-सुना है, स्वयं अनुभव किया है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि मनुष्य नियति के हाथ का खिलौना-मात्र है, विशाल सागर पर तैरते हुए तृण के समान है। काम नहीं चलेगा इस विकट सत्य से मुख मोड़ने से। वह भी बहता जायगा तृण के समान।

एक धुँधली गली सामने आ गई। एक छोटे-से सफ़ेद मकान के सामने पहुँच कर वह रुका। दरवाज़ा बन्द था। उसने साँकल खट-खटाई।

"कौन है ?"

"मैं।"

"अच्छा, आती हूँ, बेटा।"

एक वृद्धा ने दरवाज़ा खोला। उसने घर में प्रवेश किया।

"कहाँ चले गये थे, बेटा ? आज तुमने नाश्ता भी नहीं किया।"

"एक जगह ज़रूरी काम से चला गया था।"

"खाना तैयार है।"

"इस वक्त मैं खाना नहीं खाऊँगा।"

"क्यों ?"

"तबीयत ठीक नहीं है।"

"क्या तकलीफ़ है तुम्हें ?"

"पेट में दर्द है।"

"अच्छा, पूरा खाना न खाओ। थोड़ा-सा ही खा लो।"

"नहीं, अम्माँ, बिलकुल न खाऊँगा।"

"बस, दिनेश, तुम्हारी यही आदत मुझे बुरी लगती है। ज़रा-सी तकलीफ हुई कि फाका। जब देखो तब फ़ाका।"

दिनेश चुपचाप ऊपर चला गया। कितना अगाध, कितना अपार स्नेह है उसकी माता को उसके प्रति! किन्तु वह कैसे खोल कर रखे उसके सामने अपने मन की अकथनीय वेदना?

अपने कमरे में पहुँच कर वह चारपाई पर गिर पड़ा। एक खिड़की सामने खुली थी। भीतर, बाहर, चारों ओर घना अन्धकार छाया था। अन्धकारपूर्ण अस्तित्व का बोझ लादे हुए जीवन के कंकरीले पथ पर चलना होगा। किन्तु अब चारा ही क्या है इसके सिवाय? अतीत से नाता तोड़ कर, वह बढ़ता ही जायगा चुपचाप, निर्मम भाव से भविष्य की ओर, चाहे वह कुछ भी हो।

एकाएक उठकर उसने लैम्प जलाया। वह सामान्य कमरा, जो सदैव प्रसन्नता से मुस्कराता प्रतीत होता था, आज गम्भीर और उदास दिख रहा था। मेज़ पर रखे हुए कागज़ों का एक बण्डल और दियासलाई लेकर वह एक कोने में गया। कागज़ों का यह बण्डल वह थेसिस था, जिसे वह साल-भर से तैयार कर रहा था और जिस पर उसकी उन्नति की सारी आशायें निर्भर थीं। किन्तु आज वह निबन्ध और उससे सम्बन्धित उन्नति की कामनायें उसे सर्वथा निरर्थक प्रतीत हो रही थीं। कोने में बैठ कर, दियासलाई जला कर एक-एक टुकड़ा उठा-उठा कर वह जलाने लगा। कागज़ के वह बहुमूल्य टुकड़े जल कर, मुड़कर, राख होकर ढेर होने लगे।

वृद्धा ने धीरे से कमरे में प्रवेश किया। असीम विस्मय से आँखें फाड़े हुए वह दिनेश की ओर देखने लगी। फिर झपट कर वह उसके समीप पहुँची।

"यह क्या कर रहे हो, दिनेश?"

"कागज़ जला रहा हूँ।"

"यह तो वह लेख है, जिसे तुम इधर महीनों से बड़ी मेहनत से लिख रहे थे ?"

दिनेश चुप रहा ।

"तुमने कहा था कि इसके तैयार हो जाने के बाद तुम डाक्टर बन जाओगे, अच्छी-सी नौकरी पा जाओगे, और हम लोगों को सुख दे सकोगे ।"

"वेमतलब है अब इसका लिखना ।"

"वेमतलब है ! इसका मतलब क्या है, दिनेश ?"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया ।

"तुम्हारी आज की बातें मेरी समझ में नहीं आ रही हैं, दिनेश, क्या कोई ऐसी बात है, जो तुम मुझसे छिपाना चाहते हो ?"

"सुनो, अम्माँ," दिनेश ने कहा, "मैं आज बाहर जा रहा हूँ । पाँच-सात रोज़ में लौटूँगा ।"

"कहाँ जा रहे हो ?"

"इस शहर से बाहर ।"

"किस काम से जा रहे हो ?"

"एक ज़रूरी काम से ।"

कोई उत्तर सन्तोषजनक न था, किन्तु गोदावरी समझ गई कि अब आगे कुछ पूछना बेकार है । वह स्नेहमई माता थी, और चाहती थी कि अपने पुत्र के समस्त दुख-सुख में भाग ले । किन्तु दिनेश का व्यक्तित्व पूर्णतया स्वाधीन था, और अपनी समस्यायें वह अपने ही तक सीमित रखना चाहता था । अपने विचारों और कार्यों में किसी तरह का कोई हस्तक्षेप उसे पसन्द नहीं था । गोदावरी आशङ्कित तो अवश्य हुई, किन्तु दिनेश की सहज-बुद्धि में उसका जो अटल विश्वास था, उससे उसे यथेष्ट सान्त्वना मिली । विचारों में

डूबी हुई वह चुपचाप कमरे से बाहर चली गई।

निबन्ध जल गया। एक दीर्घ-निश्वास खींच कर दिनेश उठ खड़ा हुआ। अब आरम्भ होगा जीवन का एक नया अध्याय। लोग उसे पागल कहेंगे। कोई परवाह नहीं उसे किसी की सम्मति की। अब बहता जायगा वह जगत-पयोनिधि में निर्मम भाव से, बिना किसी लगाव के। वही करेगा वह, जिसकी प्रेरणा होगी उसके मन में।

दियासलाई मेज़ पर फेंक कर, एक सूट-केस में वह कुछ आवश्यक सामान रखने लगा। दो-चार किताबें रखीं, चन्द कपड़े रखे, कुछ और चीज़ें रखीं। फिर एक आलमारी से उसने एक बड़ा पर्स निकाला। पर्स में सत्तावन रुपये और कुछ रेजगारियाँ थीं। पर्स जेब में डालकर, सूट-केस उठा कर, चारों ओर एक नैराश्यपूर्ण दृष्टि डाल कर, वह कमरे से निकला, और धीरे-धीरे नीचे उतरा।

नीचे सहन में गोदावरी सिर झुकाए हुए मूर्तिवत खड़ी थी। उसके समीप पहुँच कर, झुक कर, दिनेश ने उसके पैर छुये। असीम स्नेह से माता ने पुत्र के सिर पर हाथ फेरा।

"जल्दी लौटने की कोशिश करना, बेटा," अवरुद्ध कण्ठ से गोदावरी ने कहा।

"अच्छा, अम्माँ।"

तेज़ी से वह मकान के बाहर निकल गया। उसकी आँखें भी सजल हो गई थीं उस समय। वह कहाँ जा रहा है? वह कह नहीं सकता। वह स्वयं नहीं जानता।

गली से निकल कर वह सड़क पर पहुँचा। एक इक्का धीरे-धीरे जाता दिखाई दिया।

"इक्के वाले! ओ इक्के वाले?"

इक्का रुक गया। वह तुरन्त उसके समीप पहुँचा।

"कहाँ चलना होगा, बाबू जी ?"

"बड़े स्टेशन ।"

"छः आने लूँगा ।"

"चलो ।"

वह सवार हो गया इक्के पर ।

"तेज़ी से चलो !"

"बहुत अच्छा, हुज़ूर ।"

इक्का चल पड़ा ।

रेलवे स्टेशन आ गया । इक्का रुका । एक कुली ने लपक-कर सूट-केस उतार लिया । दिनेश इक्के से उतरा, और इक्के-वाले को पैसे देकर कुली के साथ आगे बढ़ा ।

"कोई गाड़ी लगी है ?"

"हाँ, बाबूजी, सात डाउन तैयार है । दस मिनट में छूटेगी ।"

"कहाँ जायगी वह ?"

"कलकत्ता ।"

टिकट ख़रीद कर वह उस प्लेटफ़ार्म पर पहुँचा । गाड़ी सामने खड़ी थी । रेल-पेल, धक्कम-धक्का, शोर-गुल का बाज़ार गर्म था । वह भी किसी तरह इण्टर के एक डिब्बे में सवार हो गया । कुली पैसे लेकर चला गया । उधर एक बेञ्च ख़ाली थी । एक दीर्घ-निश्वास खींच, वह बैठ गया उस पर अस्त-व्यस्त । गार्ड ने सीटी दी । गाड़ी चल पड़ी । अब क्या करेगा वह ? इस बात से कोई सरोकार नहीं उसे । वह बहता जायगा संसार-सागर में एक तृण के समान ।

[३]

चार वर्ष बीत गये । कृष्णा जीवित थी, भली-चङ्गी थी । अतीत की स्मृतियाँ धुँधली पड़ गयी थीं । किन्तु दिनेश को वह भूली नहीं थी । अनेक सुशिक्षित, सम्पन्न नवयुवकों से उसका

परिचय था। किन्तु किसी से उसे कोई लगाव न था। उसकी मन-चली सखियाँ उसे मूर्खा समझती थीं। किन्तु उनकी बुद्धिमानी से लाभान्वित होने की उसे कभी इच्छा नहीं होती थी।

एक दिन आया एक युवक। स्वरूपवान, हृष्ट-पुष्ट, सुशिक्षित और सम्पन्न था वह। विचित्र विशेषता थी उसके व्यक्तित्व में। सहम गयी वह। अब नहीं टल सकेगी वह बला, जिससे आज तक वह बचती आ रही है। ड्राइङ्ग-रूम में उसके पिता डाक्टर श्याम मोहन सिनहा ने स्वागत किया नवागन्तुक का। फिर परिचय कराया उन्होंने उन दोनों का।

"बेटी! "उन्होंने कहा, "आप हैं मिस्टर कामेश्वरप्रसाद निगम, आप मेरे मित्र हैं, और पिछले साल विलायत से बैरिस्टर होकर लौटे हैं। आपके विचारों की मैं कद्र करता हूँ, और आप की सुरुचि में मुझे विश्वास है। आप मिस्टर जगमोहन निगम, रिटायर्ड सेशन जज, के सुपुत्र हैं। मिस्टर निगम! यह है मेरी पुत्री कृष्णा कुमारी सिनहा। यह ग्रेजुएट है, और ललित कलाओं से इसे विशेष अनुराग है।"

"आपसे मिलकर मुझे बड़ी खुशी हुई," मुस्करा कर कामेश्वर ने कहा।

"मुझे भी खुशी हुई आप से मिलकर," गम्भीर भाव से कृष्णा ने उत्तर दिया।

चाहा कृष्णा ने कि वह भाग जाय वहाँ से। किन्तु भाग नहीं सकी वह। शिष्टाचार के विरुद्ध था ऐसा करना।

दस मिनट तक डाक्टर सिनहा और मिस्टर निगम में एक सामयिक प्रश्न पर बहस होती रही। फिर डाक्टर सिनहा उठ खड़े हुए।

"मिस्टर निगम !" डाक्टर सिनहा ने कहा, "आप बैठिये। मैं आता हूँ। एक मरीज़ को देखना है। सीरियस केस है।"

"बेहतर है, नमस्कार !"

"नमस्कार !" चले गये डाक्टर महोदय।

छा गयी कमरे में निस्तब्धता। बढ़ गयी कृष्णा की बेचैनी। माँ इस समय उपस्थित होतीं, तो अच्छा होता। वह तो जहाँ जाती हैं, वहीं की हो रहती हैं। मिस्टर शुक्ला के घर गये कई घण्टे हो गये, लेकिन अभी तक वापस नहीं आयीं।

असह्य हो उठी निस्तब्धता। सिर झुकाये बैठी थी वह। कामेश्वर एकटक ताक रहा था उसकी ओर।

"मिस सिनहा !" कामेश्वर ने कहा—"आप को कौन-सी कला सबसे अधिक पसन्द है ?"

"चित्रकारी।"

"मैं समझता हूँ कि चित्रकारी में आप भी सिद्धहस्त होंगी ?"

"जी नहीं, सिद्धहस्त मैं नहीं हूँ। मुझे बहुत थोड़ा ज्ञान है चित्रकारी का।"

"आप की कोई कृति देख सकता हूँ ?"

"मेरी कोई कृति देखने के योग्य नहीं है।"

फिर भी, दिखलाने में क्या कोई हर्ज है ?"

"कोई हर्ज तो नहीं है।"

"तब ?"

चुप रही वह।

"सिनेमा देखने चलियेगा ?" कामेश्वर ने प्रसङ्ग बदला—"कई अच्छी फिल्में आजकल चल रही हैं।"

"सिनेमा देखने मैं बहुत कम जाती हूँ।"

"तो चलिये कहीं घूम ही आयें।"

"माफ़ कीजिये। इस समय मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

कामेश्वर समझ गया कि आज इससे आगे नहीं बढ़ा जा सकता। वह उठ खड़ा हुआ।

"अच्छा, तो अब आज्ञा दीजिये। नमस्कार!"

"नमस्कार!"

वह चला गया। शान्ति की साँस-ली कृष्णा ने। किन्तु दूसरे ही क्षण वह खो गयी विकल विचारों में।

कई दिनों के बाद वह फिर आया। और इसके बाद वह प्रायः नित्य आने लगा। घनिष्ठता बढ़ा ली उसने। 'आप' से वह 'तुम' तक पहुँच गया। लेकिन कृष्णा 'आप' पर डटी रही। वह जानती थी कि वह उससे क्या चाहता है। किन्तु अपने अन्दर वह उसके प्रति ज़रा भी लगाव नहीं पाती थी। उसके लिए वह वैसा ही था; जैसे उसके अन्य पुरुष मित्र थे।

कई मास बीत गये। एक दिन सन्ध्या की मधुर बेला में, वाटिका के सुन्दर वातावरण में कामेश्वर ने उससे अपने दिल की बात कह डाली।

"कृष्णा!" उसने कहा, "इतने दिनों से मैं तुम्हारे पीछे दीवाना बना फिर रहा हूँ, लेकिन तुम हो कि पिघलने का कोई लक्षण ज़ाहिर नहीं कर रही हो! तुम असाधारण सुन्दरी हो, और मैं रूप का उपासक हूँ। मैंने समस्त यूरोप की सैर की है। भारत में भी मैं खूब घूमा हूँ। अनेक सुन्दरियाँ विदेश और स्वदेश में मैंने देखी हैं, लेकिन कभी कोई सुन्दरी मुझे इतना आकर्षित नहीं कर सकी, जितना तुमने किया है। सम्पूर्ण हृदय से मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, और तुम्हें अपनी बनाना चाहता हूँ। मेरी बनोगी, कृष्णा?"

निस्तब्ध बैठी रही कृष्णा।

"बोलो, कृष्णा, बोलो। जवाब दो, रानी।"

"मुझे अफ़सोस है, मिस्टर निगम, लेकिन जो कुछ आप चाहते हैं, वह असम्भव है।"

"क्यों?"

"मैं किसी को प्यार नहीं कर सकती।"

"मैं सिखाऊँगा तुम्हें प्यार करना। मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि तुम किसी दूसरे की बनो। मेरी बनना पड़ेगा तुम्हें। मैं ज़मीन और आसमान हिला दूँगा; मैं........"

उठकर जाने लगी वह। लपक कर उसने पकड़ लिया उसका हाथ। हाथ छुड़ा कर चली गयी वह।

दूसरे दिन एकान्त में उसकी माता ने उससे कहा—बेटी! अब तुम्हें विवाह कर लेना चाहिए। मैं जानती हूँ कि तुम विवाह के विरुद्ध हो, लेकिन अब यह प्रश्न टाला नहीं जा सकता। हम लोग नयी रोशनी के आदमी जरूर हैं और इस बात के कायल हैं कि वर-वधू के चुनाव के सम्बन्ध में लड़के लड़कियों को स्वतन्त्रता दी जाय। लेकिन हम इसके कायल नहीं कि कोई लड़की जीवन-भर कुमारी बनी रहे। यह बात ज़रूर है कि पश्चिम में बहुतेरी स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक आजन्म कुमारी बनी रहती हैं। किन्तु यूरोप और भारत की परिस्थितियों में अनेक भेद हैं। भारत में पुरुष का संरक्षण स्त्री के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किसी के माँ-बाप हमेशा नहीं बने रहते। अब यह बहुत ज़रूरी है कि तुम्हारी एक स्वतन्त्र-गृहस्थी कायम हो, और तुम्हारे माँ-बाप उसे फूलती-फलती देखें।

कृष्णा निस्तब्ध, मूर्तिवत् बैठी रही।

"बोलो, कृष्णा, क्या कहती हो?"

"आप लोग जो चाहें, करें," कृष्णा ने धीरे से कहा "मुझे अब कोई आपत्ति नहीं है। जो बात टल नहीं सकती, उसे मानना ही पड़ेगा।"

"खुश रहो, बेटी! तुम्हारा उत्तर सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। कौशल, ब्रजेन्द्र, शङ्कर और कामेश्वर—ये सुयोग्य पात्र तुम्हारे सामने हैं। इनमें से जिस किसी को तुम पसन्द करो, उसके साथ तुम्हारे विवाह का आयोजन किया जाय।"

"इस सम्बन्ध में भी मेरी कोई निजी इच्छा नहीं है।"

"मेरी राय में कामेश्वर ठीक रहेगा। चारों में वह सबसे अधिक सुयोग्य है। तुम्हारा क्या ख्याल है?"

"मैं कुछ नहीं कह सकती।"

मिसेज़ सिनहा चली गयीं उठ कर। सिद्ध हो गया उनका अभिप्राय। अपार हर्ष उमड़ रहा था उनके मन में। अब मुक्त हो सकेंगी वह मातृत्व के एक महान उत्तरदायित्व से।

दो मास बीत गए। एक दिन सजाया गया डाक्टर सिनहा का बँगला बड़े शानदार और सुरुचिपूर्ण ढङ्ग से। पूरा हो गया कृष्णा कुमारी सिनहा का मिस्टर कामेश्वरप्रसाद निगम के साथ विवाह का सम्पूर्ण आयोजन। शाम होते-होते भर गया सारा घर प्रतिष्ठित मेहमानों से। बारात आयी सात बजे। उसका स्वागत किया गया समुचित ढङ्ग से।

दो घण्टे के बाद वर महोदय ले आये गये विवाह-मण्डप में। कृष्णा भी ले आयी गयी विवाह-मण्डप में। उस समय आँसू जारी थे उसकी आँखों से। बड़ा आश्चर्य हुआ उसकी सखियों को यह देख कर।

"देखा कृष्णा का रङ्ग?" ललिता ने मुस्करा कर कहा।

"देखा; खूब देखा !" मोहिनी हँसकर बोली।

"मुझे तो ताज्जुब होता है कि कोई नकली आँसू कैसे बहा लेता है," कुसुम ने कहा।

"यह भी एक कला है।" रामेश्वरी बोली।

"और कृष्णा दक्ष है इस कला में," ललिता ने कहा—"मन में तो खुश हो रही होगी; दिखाने को रो रही है।"

"सरासर गँवारपन है यह। एक अनपढ़ लड़की ऐसे अवसर पर रोये तो रोये, लेकिन एक पढ़ी-लिखी लड़की का आँसू बहाना कैसा ?"

"लेकिन क्या यह सम्भव नहीं कि उसे सचमुच रंज हो ?" श्यामा ने कहा।

"रंज ! किस बात का रंज हो सकता है उसे ?"

"माँ-बाप से बिछुड़ने का।"

"बेशक ! जरूर रंज है उसे। गोया वह लन्दन जा रही है ! इसी शहर में वह रहेगी, और चाहेगी तो रोज़ मायके आ सकेगी। तब कैसे रंज हो सकता है उसे ? रंज नहीं, यह मक्कारी है।"

"श्यामा !" कुसुम ने कहा, "अपने विवाह के अवसर पर तुम भी रोना, फूट-फूट कर रोना, जी भर कर रोना ?"

सब हँस पड़ीं। श्यामा झेंप गई।

विवाह का शुभ संस्कार सम्पन्न हो गया। दूसरे दिन डाक्टर सिनहा के घर पर शानदार दावत दी गई, तीसरे दिन मिस्टर निगम के घर पर।

समाचार-पत्रों में इस आदर्श तथा सुधारवादी विवाह की खूब प्रशंसा की गई, वर-वधू को बधाइयाँ दी गईं, और कट्टरपन्थियों को आड़े हाथों लिया गया।

[४]

ससुराल में भी कृष्णा सुखी नहीं हो सकी। सुख नामक वस्तु तो जैसे उसके लिए निषिद्ध हो गई थी। जो गहन उदासीनता उसके समस्त व्यक्तित्व पर आसन जमाये बैठी थी, उसे हटा सकना उसके लिए असम्भव हो चुका था। किसी भयानक अभिशाप की तरह उसकी छाया उसके जीवन के पल-पल पर पड़ती रहती। वह चलती जाती जड़वत जीवन के कण्टकाकीर्ण पथ पर।

कामेश्वर रूप और सुरा दोनों का उपासक था। कृष्णा में रूप की असाधारण निधि तो उसे अवश्य प्राप्त हुई, किन्तु तृप्ति नहीं हो सकी उसे। उसकी उपासना किसी एक तक सीमित रह सकने वाली न थी। अनेक पियक्कड़ बन गये उसके साथी, अनेक लावण्यमयी नारियाँ बन गयीं उसकी प्रेम-पात्रियाँ। दिन-भर वह अपने पेशे के कामों में व्यस्त रहता, रात में रङ्ग-रेलियों में। उसकी उच्छृङ्खलता की अनेक कथाएँ कृष्णा ने सुनीं। किन्तु उसके ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। ईर्षा कभी उसके मन में अंकुरित न हो सकी। प्रेम वह कहाँ कर सकी उससे? चाह उसे कब हुई उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर अधिकार जमाने की? उसके लिए तो उतना ही बहुत था, जितना वह पा रही थी।

व्यतीत हो गए कई वर्ष उस निरानन्द वैवाहिक जीवन के।

एक दिन कृष्णा की अनुपस्थिति में एक ज़रूरी चीज़ की खोज में कामेश्वर ने उसका एक ट्रङ्क खोला। कभी पहले उसने नहीं खोला था उसे। वह चीज़ नहीं मिली उस ट्रङ्क में भी। किन्तु उसमें उसे एक ऐसी चीज़ दिखाई दी, जिसने उसे चक्कर में डाल दिया। कई कपड़ों के नीचे एक फ़ोटो रखा हुआ था। वह फ़ोटो था किसी

सभ्य, स्वरूपवान नवयुवक का। कौन है यह व्यक्ति? उससे तो वह परिचित नहीं, कभी उसे उसने देखा भी नहीं। कौन है यह कृष्णा का? अगर यह कोई रिश्तेदार है और यह फ़ोटो घर में रखना ज़रूरी ही है, तो यह ड्राइङ्ग-रूम या किसी अन्य कमरे की शोभा क्यों नहीं बढ़ा रहा है? इसे इस तरह सन्दूक में बन्द करके रखने की ज़रूरत क्यों पड़ी? कई मिनट तक चुपचाप खड़ा हुआ वह सोचता रहा। फिर फ़ोटो हाथ में लिए हुए अपने पुस्तकालय में जाकर, एक पेग ह्विस्की पीकर, सिगरेट जलाकर, आराम-कुर्सी पर बैठ कर वह विचार करने लगा। लेकिन हल नहीं हो सकी समस्या। कई पेग पिये गये, कई सिगरेटें जलायी गयीं, किन्तु ज्यों की त्यों बनी रही वह समस्या।

कृष्णा वापस आई एक घण्टे के बाद। फ़ोटो लिए हुए वह पहुँचा उसके सामने।

"कृष्णा!" गम्भीर दृष्टि से उसके चेहरे की ओर देखते हुए उसने कहा, "किसका है यह फ़ोटो?"

सहम गयी कृष्णा। उपयुक्त उत्तर सोचने लगी वह।

"बोलो, कृष्णा। यह किसका फ़ोटो है?"

"मेरे एक मित्र का।"

"यह तुम्हारा केवल मित्र ही है या और कुछ भी?"

चुप रही कृष्णा।

"तुम्हारा यह प्रेमी भी है?"

"था," दुस्साहस की सीमा तक पहुँच कर कृष्णा ने उत्तर दिया—"अब है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकती।"

"तुम्हें यह प्यार करता था?"

"बहुत।"

"तुम भी इसे प्यार करती थीं ?"

"हाँ।"

"अब भी करती हो ?"

"शायद......हाँ।"

"कहाँ है वह आजकल ?"

"यह मैं नहीं जानती।"

"कोई बात छिपाने की कोशिश मत करो, कृष्णा। इसी में तुम्हारी भलाई है।"

"कुछ छिपाने की मुझे जरूरत नहीं। वही कहूँगी, जो सत्य है। अगर मैं छिपाना ही चाहती, तो इसी बात पर अड़ी रहती कि वह केवल मेरा मित्र है।"

"बड़ा धोखा हुआ मुझे ! लुट गया, कहीं का नहीं रहा।"

खामोश रही कृष्णा।

"जिसे मैंने खरा सोना समझा था, वह पीतल निकला, ताँबा निकला ! शेर किसी का जूठा शिकार नहीं खाता। अब तक जो हुआ सो हुआ, आगे यह न हो सकेगा। एक बात अब निश्चित रूप से समझ लो। तुम्हारा मेरे पास रहना या इस घर में रहना अब न हो सकेगा। शोर-शराबा मुझे पसन्द नहीं, और बेहतर यही होगा कि यह मामला खामोशी से तय हो जाय।"

"मैंने आपसे पहले ही कह दिया था कि मैं किसी से प्रेम नहीं कर सकती।" दृढ़तापूर्ण स्वर में कृष्णा ने कहा—"अपनी इच्छा से मैंने आपसे विवाह नहीं किया। अगर आप मुझे त्यागना ही चाहते हों, तो खुशी से त्याग दें। मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

"हाँ, मैं यही करूँगा। जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, चली जाओ—चाहे अपने माँ-बाप के पास, चाहे अपने प्रेमी के पास।"

"बेहतर है ।"

तुरन्त आकर वह अपना असबाब बाँधने लगी । आध घण्टे के बाद वह चली गयी मायके । पूरी कोशिश कर रही थी वह आँसुओं को रोकने की; लेकिन आँसू थे कि किसी तरह रुकते ही न थे । एक पुराना घाव खुल गया था दिल का ।

डाक्टर और मिसेज सिनहा ने बेटी, दामाद में सुलह कराने की पूरी कोशिश की, किन्तु वे सफल नहीं हो सके । कामेश्वर दृढ़ रहा अपने सङ्कल्प पर । कृष्णा भी उदासीन रही । समाज में होने लगीं काना-फूसियाँ, उड़ने लगीं अफवाहें । आदर्श नहीं रह गया वह आदर्श विवाह । कृष्णा ने आना-जाना छोड़ दिया समाज में । घर से बाहर वह कदम न रखती, नियमित जीवन व्यतीत करती, अपना अधिकांश समय अध्ययन में लगाती । पूर्ववत चलता रहा कामेश्वर का कार्यक्रम । वकालत में खूब दिलचस्पी लेता, रंगरेलियों में इससे भी अधिक । इस तरह बीत गये कई वर्ष ।

एक दिन दोपहर के समय मिसेज सिनहा ने कृष्णा से कहा—बेटी ! कामेश्वर बहुत बीमार है । पक्षाघात हुआ है उसे । तुम्हारे पापा उसे देखने गये थे । मैं भी देखने गयी थी । वहीं से चली आ रही हूँ । केस सीरियस है । पाँच बजे आपरेशन होगा । आपरेशन से पहले वह तुमसे मिलना चाहता है । आओगी ?

निस्तब्ध बैठी रही कृष्णा ।

"बोलो, बेटी । क्या कहती हो ? मैं तो समझती हूँ कि तुम्हें जाना चाहिए ।"

"मुझे कोई आपत्ति नहीं है, माँ ।"

"अकेले जाओगी ? नहीं, चलो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी । बड़ी बुद्धिमानी का काम कर रही हो, बेटी ! हम स्त्रियाँ हैं, और

स्त्रियों की हैसियत से हमें अपना दृष्टिकोण उदार बनाये रखना चाहिए।"

दोनों बाहर निकलीं। कार पोर्टिको में तैयार खड़ी थी। वे सवार हुईं कार पर। कार चल पड़ी।

कामेश्वर तड़प रहा था, रोग-शय्या पर पड़ा हुआ। तेज़ ज्वर था। फोड़े में सख्त दर्द था। सारा शरीर अकड़ा जा रहा था। एक सेवक दबे पाँव आया कमरे में।

"हुज़ूर !"

"क्या है ?"

"बहू रानी आई हैं।"

"भेज दो उन्हें।"

"बहुत अच्छा, हुज़ूर।"

चला गया सेवक। दो मिनट के बाद कृष्णा ने प्रवेश किया कमरे में। हाथ जोड़ कर नमस्कार किया उसने।

"कृष्णा? आ गयीं तुम ! नमस्कार ! आओ।"

रोग-शय्या के निकट जाकर खड़ी हो गई वह।

"बैठो !"

बैठ गई वह एक कुर्सी पर।

"मुझे माफ़ करो, कृष्णा। मुझसे बड़ी भूल हुई थी। प्रेम करना किसी के वश की बात नहीं। एक दूसरे व्यक्ति से तुम प्रेम करती थीं। मुझ से यदि तुम प्रेम नहीं कर सकीं, तो इस में तुम्हारा कोई दोष न था। मैं नहीं जानता था कि तुम्हारा प्रेम पवित्र है। जब से तुम यहाँ से गईं, मैं अपने आदमियों के द्वारा बराबर तुम्हारी खबर लेता रहा। लेकिन तुम्हारे आचरण के सम्बन्ध में कभी कोई बुरी

बात मैंने नहीं सुनी। मैं पशु बन गया था। लेकिन तुम बराबर आदर्श नारी बनी रहीं।"

कृष्णा निस्तब्ध, मूर्तिवत् बैठी रही।

"मुझे माफ़ नहीं करोगी, कृष्णा ?"

"यह तो मैं बहुत पहले ही कर चुकी हूँ। आपसे कोई बहुत बड़ी भूल नहीं हुई थी। आप का दोष केवल इतना था कि आपने मेरा दृष्टि-कोण समझने की कोशिश नहीं की थी।"

"धन्यवाद, कृष्णा ! मेरे मन से एक भारी बोझ उतर गया। अब अगर मुझे मरना ही है, तो शान्तिपूर्वक मरूँगा।"

"ऐसी बात न कहिये। आप अच्छे हो जायँगे, बहुत जल्द अच्छे हो जायँगे।"

आपरेशन हो गया सफलतापूर्वक। किन्तु आरम्भ की वह सफलता कायम नहीं रह सकी। पति की सेवा-शुश्रूषा में बराबर लगी रही कृष्णा। आपरेशन और हुआ एक बार।

तीन सप्ताह तक एड़ियाँ रगड़ कर चल बसा कामेश्वर। शोक में डूब गई कृष्णा।

[५]

अर्ध-रात्रि का समय था। कलकत्ता का टालीगञ्ज शान्ति की गोद में विश्राम कर रहा था। एक शानदार कार एक ओर से आई, और एक सुसज्जित बँगले के अहाते में घुसी। हार्न बजा। ऊँघते हुए सेवक ने लपक कर कार का दरवाज़ा खोला। कुछ लड़खड़ा कर उतरे एक सज्जन। फिर उनके हाथ का सहारा लेकर उतरी एक सुन्दरी। वह सज्जन थे मिस्टर दिनेशकुमार वर्मा, दि नावेल मूवी-टोन के सुप्रसिद्ध डायरेक्टर। और वह सुन्दरी थी मिस कनक गोयल, उस सिनेमा कम्पनी की असाधारण अभिनेत्री।

ड्राइङ्ग-रूममें पहुँच कर दोनों बैठ गये एक सोफ़े पर। दिनेश ने घण्टी बजाई। एक सेवक तुरन्त हाज़िर हुआ।

"काफ़ी लाओ।"

"बहुत अच्छा, हुजूर।"

सेवक चला गया।

"कनक!"

"कहो।"

"एक पेग जानीवाकर पिला दो।"

"बस, रहने दो। बहुत पी चुके हो। अब काफ़ी पियो।"

"नहीं, डार्लिङ्ग, एक पेग और, सिर्फ़ एक पेग।"

"बड़े ज़िद्दी हो।"

"तारीफ़ है यह?"

"जो समझो।"

"मैं तो तारीफ़ समझता हूँ।"

"तो यही समझो।"

"पिलाती हो?"

"न पिलाऊँगी, तो करूँगी क्या? बराबर रट लगाये जाओगे।" उठी वह।

"अच्छा, रहने दो।"

"नहीं, नहीं, पी लो।"

"अब नहीं पिऊँगा।"

"पिओगे कैसे नहीं?"

"नहीं, नहीं।"

"पीना पड़ेगा तुम्हें।"

"अच्छा बाबा, लाओ भी लो।"

इधर सङ्गमरमर की मेज़ पर शराब की कई बोतलें और गिलास रखे थे। उसके समीप पहुँच कर, ह्विस्की की एक बोतल से एक गिलास मदिरा भर कर, वापस आयी कनक।

"तुम्हारे हाथ से पीने में जैसा मज़ा मिलता है, वैसा कभी नहीं मिलता," गिलास लेते हुए दिनेश ने कहा।

"मैं खुशामद की भूखी नहीं हूँ।"

"यह तो जानता हूँ।"

"तब ?"

"कुछ नहीं।"

शराब पीकर सिगरेट जलायी दिनेश ने। सिगरेट जलायी कनक ने भी।

"एक बात कहूँ, कनक ?"

"कहो।"

"हमें विवाह कर लेना चाहिये, कनक। अब मान जाओ, हठ न करो।"

"फिर वही बात छेड़ी तुमने।"

"इसमें हर्ज क्या है ?"

"विवाह को मैं एक बेकार रस्म समझती हूँ।"

"दुनिया तो इसे उचित समझती है।"

"समझा करे।"

"दुनिया ही में हमें रहना है। लोग हमारी तरफ़ उँगली उठाते हैं।"

"उठाया करें। डरते हो दुनिया से ?"

"बिलकुल नहीं।"

"तब ?"

"यों ही कहा था मैंने ।"

"अभी हम एक हैं, दिनेश, और स्वतन्त्र भी हैं । विवाह-के बाद हम एक तो जरूर हो जायँगे, लेकिन स्वतन्त्र न रहेंगे ।"

"ठीक कहती हो, कनक ।"

काफ़ी आई । दोनों पीने लगे काफ़ी ।

"बड़ी रद्दी फिल्म थी," कनक ने कहा ।

"बिलकुल रद्दी ।"

"डिनर भी बे-मज़ा था ।"

"बिलकुल बे-मज़ा ।"

"किसी बात में आज मज़ा नहीं आया ।"

"किसी बात में नहीं ।"

काफ़ी समाप्त हो गई । सिगरेटें जला कर, उठ कर, दोनों चले गये शयनागार की ओर ।

सवेरा हुआ । दिन चढ़ा । साढ़े नौ बज गये । दिनेश ने आँखें खोलीं । घण्टी बजाई उसने । एक दैनिक और एक पत्र लेकर हाज़िर हुआ एक सेवक । पलँग के समीप पड़ी हुई छोटी मेज़ पर उसने रख दीं दोनों चीज़ें ।

"चाय लाओ ।"

"बहुत अच्छा, हुज़ूर ।"

चला गया सेवक । उठाया दिनेश ने वह पत्र । ऐं ! यह तो कनक की हस्त-लिपि है ! तुरन्त लिफ़ाफ़ा खोल कर वह पढ़ने लगा ख़त । लिखा था उसमें—

"दिनेश,

मैं जा रही हूँ—प्रकाश के साथ । यह विचार तो मेरे मन में बहुत पहले ही अंकुरित हो गया था, किन्तु आज निश्चित रूप से

ज्ञात हुआ कि मुझे प्रकाश के प्रति तुम से अधिक प्रेम है। तुम्हारे साथ मेरा सम्बन्ध अत्यन्त प्रिय तथा मधुर था, और आज उसके आकस्मिक विच्छेद के समय मुझे थोड़ा खेद हो रहा है। खैर, जो बात आरम्भ होती है, उसका अन्त होना भी अनिवार्य है।

नावेल मूवीटोन के साथ मेरा जो कण्ट्रैक्ट था, वह कल समाप्त हो गया। नया कण्ट्रैक्ट अब मैं न करूँगी। अपने इस निश्चय की सूचना कम्पनी के जनरल मैनेजर को दिये दे रही हूँ।

तुम्हें अपार दुःख होगा, यह मैं जानती हूँ। किन्तु विवश हूँ मैं। क्षमा कर देना मुझे।

तुम्हारी अब कोई नहीं—
कनक गोयल।"

मूर्तिवत् बैठा रहा वह कई क्षणों तक। फिर ठहाका मार कर हँस पड़ा वह! अच्छा मज़ाक रहा यह। पलंग से उतर कर उधर उस कोने में जाकर, आलमारी खोल कर ह्विस्की की बोतल और गिलास निकाल कर उसने पिये कई पेग। फिर सिगरेट जला कर वह जा बैठा एक आराम-कुर्सी पर।

समाप्त हो गया अध्याय भी। कच्ची निकली कनक भी। दृढ़ता का अभाव है उसके चरित्र में भी। शायद ऐसी ही हैं सारी स्त्रियाँ। दुखी वह क्यों हो? गुञ्जाइश अब कहाँ रही दुख की? बुरा किया कनक ने? शायद नहीं। आदर्शवादिनी है वह। सजीव मूर्ति है वह नारीत्व के स्वातन्त्र्य की। प्रयोग कर रही है वह अपने जीवन से। कुछ खोज रही है वह संसार में। कैसे टिकती वह उसके पास? जाने दो उसे भी। परवाह क्यों करे वह किसी की? उसे तो बहते जाना है जगत-पयोनिधि में तृण के समान। जो आयेगा, उसके

रात के साढ़े नौ बज चुके थे। कृष्णा और दिनेश आसीन थे जगमगाते हुये ड्राइङ्ग-रूम में।

"मैं तो समझती थी कि तुम मेरे साये से भागोगे।"

"मुझे ऐसा असभ्य समझ रखा था तुमने?"

"नहीं, यह बात नहीं। मैं समझती थी कि तुम मुझ से घृणा करने लगे होगे।"

"यह मैं कभी नहीं कर सका।"

"उस दिन की बात याद है, जब हम दोनों डूबने गये थे गङ्गा में, और मैं कमज़ोर साबित हुई थी?"

"खूब याद है।"

"आज तुम्हारी क्या राय है उस घटना के बारे में?"

"तब मैं नवयुवक था, अब बूढ़ा हो रहा हूँ। उस समय जैसी भावुकता मेरे हृदय में थी, वैसी आज नहीं है। मेरा दृष्टिकोण भी आज वैसा नहीं रहा। इसलिए आज उस घटना के सम्बन्ध में कोई सम्मति प्रकट करना उचित नहीं।"

"ठीक कहते हो।"

दोनों चुप रहे कई क्षणों तक।

"बहुत कोशिश की, लेकिन कभी तुम्हें भूल नहीं सकी।"

"असीम सौभाग्य की बात है यह मेरे लिए।"

आँचल के अन्दर हाथ डालकर कृष्णा ने एक लाकेट निकाला, उसने खोला उसे। एक छोटा-सा फ़ोटो था उसके अन्दर। वह फ़ोटो था दिनेश का। अपार सन्तोष व्यक्त हुआ दिनेश के चेहेरे पर।

"तुम भी आज स्वतन्त्र हो, दिनेश, और मैं भी स्वतन्त्र हूँ।"

निस्तब्ध रहा दिनेश।

"क्या कहते हो, दिनेश ? बोलो ।"

"दिन ढल गया । शाम आ गई । रात आ रही है धीरे-धीरे ।"

"फिर भी, कुछ समय तो अभी शेष ही है । और अगर यह समय हमें थोड़ा-सा सुख दे सके, तो क्या उसकी अवहेलना करनी चाहिए !"

"अवहेलना तो शायद न करनी चाहिए ।"

"तब ?"

"जैसी तुम्हारी मर्ज़ी ।"

कृष्णा का चेहरा चमक उठा अनिर्वचनीय आनन्द से ।

अभिनेत्री

सुन्दरी सरला की ओर सहानुभूति-सूचक दृष्टि से देख कर, गंभीरता से सिर हिलाते हुए लक्ष्मी-फ़िल्म-कम्पनी के सुयोग्य मैनेजर रोबिन बनर्जी ने कहा—"मुझे इस बात का खेद है, सरला, कि इस समय मुझे तुमसे एक ऐसे विषय पर बात करनी पड़ेगी जो अत्यन्त अप्रिय है।"

आश्चर्य से चकित होकर सरला ने पूछा—वह अप्रिय विषय क्या है, रोबिन बाबू ?

"मुझे भय है कि अब यह कम्पनी तुम्हारी सेवाओं से लाभ नहीं उठायगी।"

सरला सहम गई। उसके सुन्दर, उत्फुल्ल मुख-मण्डल पर मलीनता दौड़ गई। अप्रसन्नता-पूर्ण स्वर में वह बोली—"इसका कारण ?"

"लोगों की यह राय है कि सवाक् चित्रपटों में अभिनय करने के योग्य तुम नहीं हो।"

"और आप की राय भी वही है जो और लोगों की है ?"

"बहुमत के सामने एक व्यक्ति की राय क्या है, सरला ? 'धन की माया' के विषय में हमारी जो आशायें थीं उन पर पानी फिरा जा रहा है। हर जगह से निराशाजनक रिपोर्टें आ रही हैं। यह निश्चित है कि यह फ़िल्म असफल रहेगी, और इससे कम्पनी को भारी हानि होगी।

और इस असफलता की सारी ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर है।"

"सारी ज़िम्मेदारी न सही, कुछ तो है ही।"

जब मैनेजर के कमरे में उसने प्रवेश किया था, उसी समय सरला का माथा ठनका था, किन्तु ऐसी कड़वी बात सुनने की उसे आशंका नहीं थी। किसी ने उसके मन में कहा, मामला अब हद से बाहर हो चुका है। किन्तु आशा की एक क्षीण रेखा के सहारे उसने कहा—मैंने तो कुछ उठा नहीं रक्खा था, रोबिन बाबू !

इसमें कोई शक नहीं कि तुमने पूरी कोशिश की थी, किन्तु बोल-पट में अभिनय करने वाली अभिनेत्री से जिन गुणों की आशा की जाती है उनका परिचय तुम नहीं दे सकीं। जिन आलोचकों की सम्मतियाँ आदरणीय हैं वे सब तुम्हारे ख़िलाफ़ हैं। पब्लिक पर भी तुम्हारा असर अच्छा नहीं पड़ा। तुम ख़ुद देखो।"

मेज़ का एक ड्रार खोलकर उसमें से अख़बारों की कुछ कतरने निकाल कर मैनेजर ने उसके सामने फेंक दीं। उत्सुकता से एक कतरन उठाकर वह पढ़ने लगी। उसमें लिखा था—

"लक्ष्मी-फ़िल्म-कम्पनी का पहला बोल-पट 'धन की माया' अत्यन्त निम्न कोटि का फ़िल्म है। हालीउड के लिए बोल-पट उतना ही नया है, जितना हमारे लिए। वहाँ की प्रारम्भिक कृतियाँ जिस ऊँचाई पर पहुँच गई हैं, वहाँ तक हमारे बोल-पट शायद कभी न पहुँच पायँगे। कुछ दिन हुए किसी ने कहा था, 'भारतीय सिनेमा-

व्यवसाय अपने बाल्यकाल में नहीं पागलपन की अवस्था में है !' हार्दिक खेद-सहित हमें इस सम्मति का समर्थन करना पड़ रहा है।

"इस फ़िल्म की कहानी वैसी ही रही है, जैसा इसका रेकार्डिङ्ग और ऐक्टिंग के विषय में इतना कह देना बहुत होगा कि इस फ़िल्म में पार्ट करने वाले अभिनेता तथा अभिनेत्रियाँ हमें तो उन निरीह बटोहियों के समान दृष्टि-गोचर होती हैं जो किसी अज्ञात स्थान में पहुँच कर मार्ग भूल गई हों ! ऐसे लोगों के होश-हवास कैसे दुरुस्त रह सकते हैं ? नायक तथा नायिका के पार्ट करने वालों को ही ले लीजिए। बेचारे श्यामकृष्ण ने हर बार बड़ी सावधानी से निशाना साधा, लेकिन चूक गये और सरला देवी में न तो वाणी का ओज है और न वह आत्म-विश्वास जो हम उनमें सदा देखते आये हैं। अवाक् चित्र-पटों में सरला देवी ने जिस अद्भुत अभिनय-कौशल का प्रदर्शन किया है उसके प्रति हमारे हृदय में इतना अनुराग है कि हमें किञ्चित-मात्र भी हिचक नहीं है कि या तो वे अपनी कला को अवाक् चित्र-पटों में ही सीमित रक्खें, नहीं तो रजत-पट से अवकाश ग्रहण कर लें, ताकि हमारे हृदयों में उनकी वही मधुर स्मृतियाँ बनी रहें जो अभी तक विद्यमान हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो अभिनेत्रियाँ तथा अभिनेता अवाक् चित्र-पटों में चमक चुके हैं वे बोल-पटों में भी प्रतिभासम्पन्न सिद्ध हों। कला की मर्यादा की रक्षा के निमित्त ही विवश होकर हमें यह इशारा करना पड़ा है हमें आशा है कि जो विवेकशील हैं वे हमारी स्पष्टवादिता से दुखी न होंगे, बल्कि इससे लाभ उठायँगे। फ़ोटोग्राफ़ी संतोष-जनक है। अपने अगले अंक में हम इस चित्र की विस्तृत आलोचना प्रकाशित करेंगे।"—'दि स्क्रीन'।

सरला की आँखों में आँसू छलक आये—नैराश्य, विषाद तथा

रोष के आँसू। कतरन मैनेजर के सामने फेंक कर, मुख मोड़कर, वह अपने भावावेग को नियंत्रण में लाने का प्रयत्न करने लगी।

"निस्सन्देह इतने दिनों के सुखद सम्बन्ध को विच्छेद करने में हमें अकथनीय दुःख का अनुभव हो रहा है, किन्तु जब इसी में हम सबकी भलाई है तब आगा-पीछा करना वास्तविकता से मुख मोड़ना है। इसी लिए मेरा यह अप्रिय कर्त्तव्य है कि मैं तुमसे इस बात का अनुरोध करूँ कि तुम इस्तीफ़ा दे दो ताकि हमें मजबूर होकर.........!"

सरला अब अधिक न सुन सकी। वह उठकर तेज़ी से कमरे के बाहर हो गई।

[२]

किसी न किसी तरह घर पहुँच कर वह सीधे अपने सुसज्जित शयनागार में गई। भीतर से दरवाज़ा बंद करके वह बिस्तरे पर गिर पड़ी और फूट फूटकर रोने लगी। यहाँ उसे एकान्त में तूफ़ान की तरह उठे हुए भावावेग को रोकने की आवश्यकता न थी। अभी तक रुकी हुई दुःखद भावनायें स्वतन्त्र होकर ताण्डव-नृत्य करने लगीं। उसकी मनोवेदना का वारापार न था। एक भावुक युवती के लिए इससे अधिक दुःख की बात क्या हो सकती है कि उसे यह बतलाया जाय कि जिस कार्य के सम्पादन में उसने अपनी सम्पूर्ण योग्यता से काम लिया था वह निंदनीय सिद्ध हुआ। "लोगों की यह राय है कि तुम बोल-पटों में अभिनय करने के योग्य नहीं हो" मैनेजर के ये कठोर शब्द कानों में गूँज-गूँज कर उसके आन्दोलित हृदय पर चोट कर रहे थे।

बड़ी देर के बाद जब उसका हृदय कुछ शान्त हो गया तब आँखें पोंछकर वह बिस्तरे से उतरी, और सिगरेट जलाकर आराम-

कुर्सी पर लेटकर कश खींचकर, धुआँ फेंक कर, धुएँ की ऊपर उठती हुई लहर को विचारपूर्ण दृष्टि से देखने लगी। अब क्या करना चाहिए? यह बात तो निश्चित ही है कि लक्ष्मी-फ़िल्म कम्पनी अब उसे अपने यहाँ नहीं रखना चाहती। इसलिए इस्तीफ़ा तो उसे दे ही देना चाहिए। विचार पक्का हो गया। उठकर वह कमरे से बाहर निकली। सेविका गुलाब सामने आई।

"चाय ले आऊँ, बाई जी?" स्वामिनी के मुखमण्डल की ओर चिन्ताग्रस्त दृष्टि से देखकर उसने पूछा।

अभी नहीं, गुलाब। कुछ देर के बाद पिऊँगी।"

आगे बढ़कर उसने पुस्तकालय में प्रवेश किया। दरवाज़ा बंद करके वह मेज़ के सामने जा बैठी, और इस्तीफ़ा लिखने लगी। एक घंटे की मेहनत के बाद यह त्याग-पत्र तैयार हुआ—

"प्रिय रोबिन बाबू,

उस खेदजनक परिस्थिति के कारण जिससे आप स्वयं परिचित हैं, मैंने सिनेमा-संसार से अवकाश-ग्रहण करने का निश्चय कर लिया है। यह मेरे लिए असीम दुःख का विषय है कि अब आपकी प्रतिष्ठित कम्पनी की सेवा मैं न कर सकूँगी। आप लोगों ने सदैव मेरे प्रति जिस शालीनता का परिचय दिया है उसके लिए अनुगृहीत हूँ।"

सरला देवी।"

एक बार फिर पत्र को सावधानी से दोहराकर, एक लिफ़ाफ़े में उसे रखकर, लिफ़ाफ़े पर पता लिखकर, उसने घंटी बजाई। एक मिनिट में एक सेवक ने कमरे में प्रवेश किया। पत्र उसे देकर सरला ने कहा—इसे रोबिन बाबू के पास ले जाओ। उन्हीं को देना, और किसी को नहीं। अगर जवाब दें तो लेते आना।

सिर झुका कर सेवक चला गया, तब एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर वह उठी, और उधर उस आलमारी के समीप गई। आलमारी खोलकर ह्विस्की की बोतल उठा कर एक गिलास में थोड़ी-सी ह्विस्की उँडेलकर, सोडा मिला कर, पीकर, सिगरेट जलाकर, आलमारी बंद कर, एक आरामकुर्सी पर लेट कर वह विचारों में मग्न हो गई। समाप्त होगया आज उसके जीवन का वह अध्याय जिसकी रचना दस वर्ष के कठिन परिश्रम से हुई थी, जिसमें उसकी महत्त्वाकांक्षाओं तथा सफलताओं का इतिहास अंकित था। एक साधारण अभिनेत्री की स्थिति से बढ़ते बढ़ते वह लोकप्रियता, प्रसिद्धि, सम्मान के सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन होगई थी। अपना जादू उसने संसार पर चलाया था, और मन्त्रमुग्ध हो कर संसार ने उसे अपनी बहुमूल्य निधियाँ अर्पित की थीं। किन्तु उसके भाग्य में यह दुर्दिन देखना भी बदा था। कितना चंचल है मनुष्य का भाग्य! सचमुच उसे वहाँ रहने का कोई अधिकार नहीं है, जहाँ उसकी आवश्यकता नहीं है। निःसन्देह मूक चित्र-पटों में वह अब भी पार्ट कर सकती है, किन्तु आगे बढ़ कर पीछे हटना कितना अपमानजनक है। किसी अभिनेता अथवा अभिनेत्री के लिए इससे बढ़कर बुद्धिमानी का कोई कार्य नहीं हो सकता कि सम्मान के उच्च आसन से गिराये जाने के पहले ही वह रंगमंच से अलग हो जाय। सत्य जब यही है तब इससे मुख मोड़ने से क्या लाभ होगा।

अब क्या करना होगा? जिस ढङ्ग से अब तक रहती आई है, उसी ढङ्ग से क्या आगे भी वह रह सकेगी? कदापि नहीं, क्योंकि अपनी संतोषजनक स्थिति को स्थायी समझ लेने के कारण किफ़ायत से चलना उसने आवश्यक नहीं समझा था। यदि वह किफ़ायत से चलती तो एक अच्छी-खासी रक़म आज बैंक में उसके नाम जमा

होती। किन्तु वह तो अपने वेतन का अधिकांश उन अनावश्यक वस्तुओं पर खर्च कर देती थी जिनका उसकी दृष्टि में आज कोई मूल्य न था। किन्तु अब पछताने से क्या मिलेगा ? दुःखद परिस्थिति का साहस के साथ सामना करने से ही काम चलेगा। वह निर्धन है, निराश्रय है। सारा माल असबाब बेच देना होगा, नौकरों को अलग कर देना होगा, यह घर खाली कर देना होगा, पृथ्वी के किसी ऐसे अज्ञात कोने में जाकर रहना होगा जहाँ उसे कोई न जानता हो, और जीवन के शेष दिन कुढ़-कुढ़कर काटने होंगे।

निस्सन्देह उसके अनेक प्रेमी थे, और उनमें कई अविवाहित भी थे। किसी न किसी गुण के कारण वह उन सबको पसन्द करती थी, किन्तु किसी से विवाह कर लेना असम्भव था। गिरधरलाल ! हाँ, गिरधर को वह सबसे अधिक पसंद करती थी, किन्तु वह निर्धन था, और उसका चरित्र भी ठीक नहीं था।

सहसा उसकी अन्तर्दृष्टि के सम्मुख एक स्वस्थ, सुन्दर युवक की छायामूर्ति आ उपस्थित हुई। ग्यारह वर्ष पूर्व उस युवक से उसका परिचय हुआ था। उस समय वह निरीह नवयुवती थी, और अभिनेत्री बनने के चक्कर में थी। एक जलसे में विनयशङ्कर ने पहले-पहल उसे देखा था, और वहीं उससे परिचय प्राप्त किया था। दूसरे ही दिन उस जल्दबाज़ युवक ने एक एकान्त स्थान पर उससे अपने प्रेम का परिचय दिया था, और सरला ने हँस कर उसका उपहास किया था। फिर तो वह उसके पीछे ही पड़ गया। वह नित्य उससे मिलने, और उसका और अपना अमूल्य समय नष्ट करने लगा। यही कारण था उसके पराजय का।

नित्य के अनुसार एक दिन जब अपने कमरे में एक बड़े शीशे के सामने खड़ी हुई वह अभिनय का अभ्यास कर रही थी, विनय

उसके घर आया। लापरवाही में उसने कमरे का दरवाज़ा खुला छोड़ दिया था। इसी से विनय को कमरे में चुपचाप घुस आने का मौक़ा मिल गया था। धीरे से प्रवेश करके वह उसे चकित करने के लिए उसके पीछे जा खड़ा हुआ। शीशे में उसकी शक्ल देखकर सरला चौंक पड़ी। फिर उसे क्रोध आ गया। उसकी ओर मुड़कर वह उसे खरी-खोटी सुनाने लगी। वह हँस पड़ा, और उसे पकड़ने के लिए आगे बढ़ा। वह और भी चिढ़ गई। उसे धक्का देकर उसने कहा—यह लड़कपन अपने पास रक्खो! क्या तुम्हारे खेलने के लिए मैं कोई खिलौना हूँ।

गम्भीर होकर वह फ़र्श की ओर ताकने लगा। उसके आत्म-सम्मान पर चोट लगी। जिसे वह प्यार करता था उसी के मुख से ऐसे अपमानजनक शब्द सुनने की उसे आशा न थी। दो-तीन क्षणों तक निस्तब्ध रहकर सरला ने फिर कहा—तुम्हें इस बात का क्या अधिकार है कि तुम मेरे मार्ग में बाधायें उपस्थित करो?

धीरे से दृष्टि उठाकर, सरला के चेहरे की ओर देखकर उसने कहा—मुझे कोई अधिकार नहीं है, मैं यह मानता हूँ। मुझसे बड़ी भूल हुई। माफ़ करो। किन्तु यह अनधिकार चेष्टा करने का अधिकार क्या तुमने मुझे नहीं दिया था?

"दिल्लगी बुरी नहीं होती, लेकिन जब वह हद से आगे बढ़ जाती है तब घृणित हो जाती है।"

"मैं मानता हूँ कि मुझसे सख़्त गलती हुई, लेकिन कोई बुरा भाव मेरे मन में नहीं था। सच्चे हृदय से मैं तुम्हें प्यार करता हूँ!"

"यह कोरी भावुकता मुझे नहीं चाहिए। प्रेम के अतिरिक्त मुझे अन्य वस्तुओं की आवश्यकता है। मैं पहाड़ की चोटी पर पहुँचना चाहती हूँ, आकाश में उड़ना चाहती हूँ, मैं धन, प्रसिद्धि

तथा लोक-सम्मान चाहती हूँ, और जो वस्तु मेरे मार्ग में बाधा उपस्थिति करेगी उसे ठुकरा दूँगी !"

"यह कहने के लिए मुझे क्षमा करो, सरला, कि प्रेम-सम्बन्धी तुम्हारे विचार भ्रमपूर्ण हैं। प्रेम, यदि वह सच्चा है तो, बाधायें उपस्थित नहीं करता, सहायता करता है !"

"प्रेम चाहे कुछ करता हो या न करता हो, आपका प्रेम चाहे सच्चा हो या झूठा हो, कृपा करके अपना प्रेम आप अपने पास रखिए ! मुझे आपके प्रेम की आवश्यकता नहीं है !"

"तब इसका मतलब यह है कि अब तुमसे कभी न मिलूँ ?"

"जी हाँ।"

मुड़कर विनय कमरे से बाहर हो गया। सरला के जी में आया कि उसे वापस बुला ले, किन्तु यह अनुचित प्रतीत हुआ। उबलती हुई वह जाकर एक कुर्सी पर बैठ गई।

किन्तु आज तो वह निरी बालिका नहीं है। आज तो ग्यारह वर्ष के सांसारिक अनुभव का बोझ उसके सिर पर लदा हुआ है। आज वह जानती है कि उस समय उसने भूल की थी। विनय की एक साधारण ग़लती के कारण आपे से बाहर हो जाना सर्वथा अनुचित था। विनय अब कहाँ है, क्या करता है, कौन जाने ?

(३)

सिनेमा-संसार से सरला के अवकाश-ग्रहण करने की बात सारे शहर में फैल गई। दूसरे दिन प्रातःकाल ही उसके अनेक प्रशंसकों, संवाददाताओं और तमाशबीनों ने उसका घर घेर लिया, किन्तु उसने किसी से मिलना स्वीकार नहीं किया। बीमारी का बहाना करके वह अपने शयनागार में पड़ी रही। लोग निराश हो कर चले गये।

सारे दिन उसने किसी से भेंट नहीं की, किन्तु सन्ध्या के समय जब गिरधरलाल आया तब वह उससे इनकार नहीं कर सकी। हाथ में एक पत्रिका लिए हुए वह अपने ड्राइङ्ग-रूम में एक कोच पर लेटी हुई थी। अजीब शान से गिरधरलाल ने कमरे में प्रवेश किया। सरला उठ बैठी, और वह उसकी बग़ल में जा बैठा।

"तुमने यह क्या कर डाला, सरला? मेरे आश्चर्य का तो ठिकाना ही नहीं है। आख़िर बात क्या हुई।

"और कोई चारा नहीं था।" विषाद-भरे स्वर में उसने उत्तर दिया।

"क्या कम्पनीवालों ने तुम्हें इसके लिए मजबूर कर दिया था।"

"हाँ, उन लोगों ने मुझे इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर किया था।"

"बड़े शैतान हैं! ऐसा उन लोगों ने क्यों किया?"

"अपने पहले बोल-पट से उन लोगों को जो आशायें थीं वे पूरी होती दिखाई नहीं देतीं, और उनका ख़याल है कि इसका कारण मैं हूँ।"

"भाड़ में जायँ वे लोग! किसी दूसरी कम्पनी में क्यों नहीं चली जातीं?"

"नहीं, यह असम्भव है। मैंने पक्का इरादा कर लिया है कि अब किसी कम्पनी में काम न करूँगी।"

"तब क्या करोगी?"

"यह मैं अभी नहीं कह सकती।"

"कौन जानता था कि एक दिन तुम अपने पेशे से इस तरह अलग हो जाओगी? बड़े अफ़सोस की बात है! मैं तो कहीं का न न रहा। अब किसे तंग करूँगा, किससे मदद लूँगा?"

"दुनिया बहुत बड़ी है, और तुम चालाकों के सरदार हो ! ऐसे आदमियों की हमेशा जीत ही रहती है !"

"प्यारी सरला ! एक बात कहूँ ?"

"कहो ।"

"मेरे साथ शादी कर लो !"

"यह नामुमकिन है, गिरधर । यह बात पागलपन से कम न होगी । तुम तो पहले से ही कंगाल थे, अब मैं भी कंगाल हो गई ! और बातों को जाने दो, यही क्या कम है ?"

"यह तो ठीक है, लेकिन हमारा काम किसी न किसी तरह चल ही जायगा ।"

"यह बेवक़ूफ़ी का ख़याल दिल से दूर कर दो, गिरधर । जो बात नामुमकिन है वह नामुमकिन है।"

इसी तरह दोनों देर तक बातें करते रहे । भोजन के बाद भी देर तक बातें होती रहीं ।

"अब मैं सोऊँगी ।" सरला ने अन्त में उठकर कहा ।

"क्या मैं यहाँ रात काट सकता हूँ ?"

"शौक़ से रहो ।"

"धन्यवाद ।"

एक सेवक को बुलाकर और गिरधर के सोने का इन्तज़ाम करने की आज्ञा देकर वह कमरे से बाहर हो गई ।

"सरकार ! सरकार !" दूसरे दिन बड़े तड़के ही गुलाब उसके शयनागार का दरवाज़ा खटखटाने लगी ।

"क्या है री ?" जागकर, खीझ-भरे स्वर में उसने पूछा ।

"ग़ज़ब हो गया, सरकार ! जल्दी दरवाज़ा खोलिए ।"

तुरन्त उठ कर सरला ने दरवाज़ा खोला, और कौतूहल-पूर्ण स्वर में पूछा—"क्या बात है गुलाब ?"

"घर में चोरी हो गई !"

"चोरी हो गई ! कब ? कैसे ?

"रात में हुई होगी। चल देखिए।"

"चल, देखूँ तो।"

दोनों एक ओर चली गईं।

जिस कमरे में नक़दी और गहने रक्खे रहते थे उसका ताला टूटा हुआ था, तिजोरी खुली पड़ी थी, एक पत्र के अतिरिक्त उसमें कुछ नहीं था। उस पत्र में लिखा था—"प्यारी सरला,

अपने पेशे से अलग होकर तुमने मेरी उम्मीदों पर पानी फेर दिया। तुमसे अब मैं क़र्ज़ न ले सकूँगा। आशा थी कि मेरे साथ शादी कर लोगी, लेकिन यह उम्मीद भी जाती रही। अब तुम्हारे पीछे पड़े रहना फ़िज़ूल है। यह तो तुम जानती ही हो कि मैं पक्का मुफ़लिस हूँ। इसलिए तुम्हारे रुपये और गहने लिए जाता हूँ। जो कुछ कल तुमने मुझसे कहा था वही दोहराता हूँ, 'दुनिया बहुत बड़ी है, और तुम चालाकों के सरदार हो!' पुलिस को इत्तिला न देना, क्योंकि यह बिलकुल फ़िज़ूल होगा। जब तक पुलिसवाले कार्रवाई शुरू करेंगे तब तक इस शहर से सैकड़ों मील दूर पहुँच जाऊँगा।

"मुझे माफ़ करना पिछली दोस्ती का ख़याल करके। अब तुम्हें कभी तङ्ग न करूँगा। इतमीनान रक्खो। नमस्कार !

तुम्हारा निराश प्रेमी,

गिरधरलाल।"

सरला क्रोध से काँपने लगी। उसने पत्र चीरकर फेंक दिया।

बिना एक शब्द भी कहे हुए वह उस कमरे से बाहर हो गई। नौकर आश्चर्य से ताकते रह गये।

ड्राइंग-रूम में पहुँच कर सरला एक सोफ़े पर गिर पड़ी। उस की आँखों से आँसू बहने लगे—असीम नैराश्य तथा विवशता के आँसू! विविध भावों से आन्दोलित वह बड़ी देर तक मूर्तिवत् बैठी रही। फिर, आँखें पोंछकर फ़र्श की ओर शून्य दृष्टि से ताकने लगी।

बड़ा अच्छा हुआ कि उस शैतान से पीछा छूट गया। गुण्डा, चोर, लुच्चा! इसके अतिरिक्त उससे और क्या आशा की जा सकती थी? पुलिस को इत्तिला देना व्यर्थ है, फ़िज़ूल शोर-शराबा होगा। उसने ठीक लिखा है, उसे पकड़ पाना असम्भव है। वह पकड़ा भी गया तो क्या वह यह देख सकेगी कि वह जेल जाय? नहीं उससे यह कदापि न होगा!

संध्या समाप्त हो रही थी। रात आ रही थी। विकल विचारों में खोई वह अपने बिस्तरे पर पड़ी थी। सर्वनाश हो गया। इस संसार में अब उसके लिए कोई आशा नहीं है, यहाँ रहना वृथा है। अपमान के साथ जीवित रहने से मर जाना ज़्यादा अच्छा है। अब इस निरर्थक जीवन का अंत ही कर देना चाहिए, और जल्द से जल्द। आज रात को? ज़रूर, ज़रूर।

गुलाब दबे-पाँव कमरे में आई और अपनी स्वामिनी के समीप गई। उसके हाथ में एक तश्तरी थी, और तश्तरी में एक कार्ड था। सरला ने कार्ड उठाकर देखा। उस पर अंकित था—'विनयशंकर'! आश्चर्य से वह चकित रह गई। क्या यह सम्भव है? वह स्वप्न तो नहीं देख रही है? क्या वह सचमुच आया है? वही जिसके साथ आज से ११ वर्ष पूर्व उसने भद्दा व्यवहार किया था! अकथनीय

आनंद उसके हृदय में प्रवाहित होने लगा, विषाद की छाया हट गई, उसका मुखमण्डल चमकने लगा।

"उन्हें ड्राइंग-रूम में बैठाओ। मैं अभी आती हूँ!"

"बहुत अच्छा, बाई जी।" मुस्कराकर, सिर झुकाकर, गुलाब चली गई।

पाँच मिनट के बाद जब उसने ड्राइंग-रूम में प्रवेश किया तब एक सुन्दर, स्वस्थ युवक ने उठकर, हाथ जोड़ कर उसे नमस्कार किया। नमस्कार का उत्तर देकर, मुस्करा कर, सरला ने कहा—आख़िर आप आ ही गये!

कुछ शर्माकर वह मुस्कराया।

"आराम से बैठिए।" एक सोफ़े की ओर संकेत करके सरला ने कहा।

"धन्यवाद!" वह बैठ गया।

"इस सम्मान के लिए अनुगृहीत हूँ!" उसकी बग़ल में बैठकर सरला ने कहा।

"आपने मुझसे भेंट करना स्वीकार किया, इसके लिए मैं भी अनुगृहीत हूँ!"

विनय के शब्दों में जो मीठी चुटकी थी, उसका उचित असर पड़ा। सरला ने एक दीर्घ निःश्वास खींचा।

"कितने सालों के बाद आज मुलाक़ात हुई है! अपना सारा हाल तो सुनाइए।"

"ग्रेजुएट होने के बाद मैं इंग्लैंड चला गया, और वहाँ से बैरिस्टर होकर लौटा। अब वकालत करता हूँ, और वकालत चलती भी है।"

"यह तो बड़ी ख़ुशी की बात है।"

"ग्यारह साल पहले मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुमसे कभी न मिलने का प्रण किया था। अपने प्रण का पालन तो मैं करता रहा, लेकिन तुम्हारी खोज ख़बर रक्खे बिना मुझसे नहीं रहा जाता था, कल तक मैं अपने प्रण पर डटा था, और मेरा इरादा था कि सदैव डटा रहूँगा। लेकिन कल जब सिनेमा-संसार से तुम्हारे अलग होने की ख़बर मैंने समाचार-पत्रों में पढ़ी तब एक बार तुमसे फिर भेंट करने की प्रबल इच्छा मेरे हृदय में उत्पन्न हो गई। मैं लाचार हो गया। इसलिए इस समय हाज़िर हुआ हूँ।"

"तुम्हारे आने से मैं बहुत ख़ुश हूँ। उस समय एक बेवक़ूफ़ लड़की थी, लेकिन आज मैं अपने आपको अक़्लमन्द औरत समझती हूँ!"

"सरला! आज भी मैं तुम्हें उसी तरह प्यार करता हूँ, जैसे ग्यारह साल पहले करता था!"

"मैं भी विश्वास करती हूँ कि अपने हृदय के एकान्त में तुम्हें सदा प्यार करती रही हूँ।"

वह सुन्दर सुयोग जिसकी प्रतीक्षा में वह आज तक कौमार्य-व्रत धारण किये बैठा था, अंत में इस तरह आ ही गया। उसने उसे कर-पाश में बाँध लिया। उस समय उन दोनों के प्रताड़ित हृदय, एक ही रस में डूब गये।

अन्तिम आशा

चार दिन से विनोद दौड़ रहा है, लेकिन सफलता कहीं नज़र नहीं आती। मन में जो प्रबल उत्साह लेकर घर से चला था, उस पर पानी पड़ता जा रहा था। जिस फ़िल्म-कम्पनी के सामने जाता है, उसके फाटक पर अंग्रेज़ी के दो भयानक शब्द मोटे-मोटे अक्षरों में लिखे दिखाई देते हैं—जगह नहीं है। क्या यह सत्य है? क्या यहाँ हमेशा ऐसी ही दशा रहती है? अगर बात ऐसी ही है, तो नई फ़िल्मों में नये-नये कलाकार कैसे आ जाते हैं? शायद बात ऐसी नहीं। शायद यह अयोग्य व्यक्तियों से बचने का बहाना-मात्र है। जो हो, अपने लिये तो उसे मार्ग निकालना ही पड़ेगा। निकल सकेगा मार्ग? वे दो भयानक शब्द!

अयोग्य नहीं था विनोद। स्वस्थ था, बलिष्ठ था, अत्यधिक स्वरूपवान था। संगीत की उसे यथेष्ट जानकारी थी। गला उसने सुरीला पाया था। स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटी में खेले जाने वाले नाटकों में वह सफलता-पूर्वक अभिनय कर चुका था। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसके मन में प्रबल विश्वास था कि वह सफल अभिनेता बन सकता है।

एक दिन अकस्मात् उसे अभिनेता बनने की प्रेरणा हुई थी। 'देवदास' देख कर वह घर लौट रहा था। एकाएक उसके मन में एक प्रश्न उठा। 'क्या मैं सहगल का सा उत्कृष्ट अभिनय नहीं कर सकता?' तुरन्त उत्तर मिला, 'कर सकते हो—अवश्य कर सकते हो।' बस, उसी समय उसके मन में अभिनेता बनने की इच्छा अंकुरित हो गई। इच्छा बलवती होती गई। फिर इच्छा 'निश्चय में परिणत हो गई। उस समय विनोद एम० ए० फाइनल में पढ़ रहा था। परीक्षा-काल निकट था। मन की व्यग्रता किसी तरह दाब कर उसने अपने निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने का विचार कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया।

परीक्षा काल बीत गया। दो महीने और निकल गये। परीक्षा-फल प्रकाशित हुआ। विनोद सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण हो गया। तब प्रसन्न होकर उसके पिता ने प्रश्न किया—"अब क्या करोगे, विनोद?"

"अभिनेता बनूँगा, बाबूजी," विनोद ने उत्साहपूर्वक उत्तर दिया।

"अभिनेता! कैसी बेवकूफ़ी की बात कर रहे हो, विनोद?"

"बेवकूफ़ी इसमें क्या है?"

"बेवकूफ़ी नहीं तो क्या है यह! भले घर के लड़के हो। तुम्हें ऐसा काम करना चाहिए जिससे इज्ज़त और हैसियत बढ़े।"

"अभिनेता बनने से भी तो इज्ज़त और हैसियत बढ़ सकती है।"

"अभिनेता ही बनना था, तो इतने दिनों तक पढ़ाई में समय और धन बर्बाद करने की क्या ज़रूरत थी?"

"शिक्षा प्राप्त करने का एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये—शिक्षित बनना। मेरा भी यही उद्देश्य था।"

"नहीं नहीं, यह ख़ब्त छोड़ो। इससे काम नहीं चलेगा।"

विनोद निस्तब्ध रहा।

"आई० सी० एस० की तैयारी करो। पास हो गये तो किस्मत चमक उठेगी। कलेक्टर हो जाओगे। ज़्यादा क़ाबलियत दिखलाओगे, तो प्रान्तीय सरकार में पहुँच जाओगे, और आगे भी तरक्की का रास्ता खुला रहेगा।"

विनोद उसी तरह चुपचाप खड़ा रहा।

"जो रास्ता तुम पकड़ना चाहते हो, वह ख़तरे से ख़ाली नहीं है। जो रास्ता मैं सुझा रहा हूँ, उसमें किसी तरह का ख़तरा नहीं है। ग़ौर करोगे तो तुम्हें खुद मालूम हो जायगा कि मेरी यह बात सही है या ग़लत। मैं यह मानता हूँ कि तुम्हें अपना रास्ता चुनने का अधिकार है; लेकिन अगर तुम्हें ग़लत रास्ता चुनते देखूँ और तुम्हें रोकने की कोशिश न करूँ, तो यह मेरी भूल समझी जायगी। समझ से काम लो, बेटा! ऐसा काम करो, जिससे तुम भी आदमी बनो, और मुझे भी यह सोचकर सन्तोष हो कि मैं एक लायक़ लड़के का बाप हूँ।

विनोद अपने कमरे में चला आया। दिन भर वह विचारों में व्यस्त रहा। दूसरे दिन भी वह विचार करता रहा। लेकिन अपना निश्चय वह पलट नहीं सका। तीसरे दिन पिता के नाम एक पत्र लिखकर वह घर से भाग निकला।

इस तरह वह आ गया है बम्बई, और भटक रहा है इधर-उधर, प्रयास चल रहा है। भाग्य की परीक्षा हो रही है।

पाँचवाँ दिन है। दिन के दस बज चुके हैं। एक प्रसिद्ध फ़िल्म कम्पनी के फाटक पर उम्मीदवारों की भीड़ लगी हुई है।

"हटो, हटो," दरवान चिल्लाया। "भीड़ मत लगाओ, भीड़ मत लगाओ। क्यों मुफ़्त सिर पटक रहे हो। देखते नहीं, साफ़

लिखा हुआ है कि जगह नहीं है।"

"अजी यह तो कोरी बहानेबाज़ी है," एक उम्मीदवार ने कहा।

"बस, एक बार ज़रा मैनेजर साहब से मिला दो," दूसरे ने कहा। "बड़ा उपकार होगा, दरवान साहब!"

"मेरा कार्ड ही पहुँचा दो, दरवान भैया," तीसरे ने कहा। "उम्र भर एहसान मानूँगा।"

"नहीं, नहीं, मैं कुछ नहीं कर सकता—कुछ नहीं कर सकता, सख़्त हुक्म है। हट जाओ, हट जाओ।"

उसने बल-प्रयोग करना चाहा। लोग स्वयं हट गये। विनोद पहले ही से अलग खड़ा था।

एकाएक एक शानदार कार फाटक के सामने आकर रुकी। कार में एक सुन्दरी थी। इधर-उधर दौड़ कर सुन्दरी की दृष्टि विनोद के चेहरे पर जम गई। वह उसे देखने लगी ध्यानपूर्वक। कल भी उसने इसी तरह उसे देखा था। वह उसे क्यों इस तरह देख रही है? बात क्या है आख़िर? उसकी शक्ल में कोई भोंडा-पन है, या कपड़ों में कोई ख़राबी है, या अज्ञात रूप से उसके प्रति उससे कोई अपराध बन पड़ा है, या......?

शोफ़र ने अदब से कार का दरवाज़ा खोला। सुन्दरी ने झुक कर उससे कुछ कहा। फिर वह कार से उतर कर फाटक के अन्दर चली गई। शोफ़र धीरे-धीरे टहलता हुआ विनोद के पास आया।

"आप कहाँ से आये हैं?" शोफ़र ने प्रश्न किया।

"इलाहाबाद से।"

"एक्टर बनना चाहते हैं?"

"हाँ भाई, चाहता तो हूँ," विनोद ने नैराश्यपूर्ण स्वर में उत्तर दिया, "लेकिन अभी तो यह हाल है कि किसी कम्पनी के

अन्दर क़दम रखने का मौक़ा भी नहीं मिला।"

"अच्छा, आप थोड़ी देर तक यहीं रुके रहिए। मैं अभी आता हूँ।"

उसके पास से हट कर शोफ़र फाटक के अन्दर चला गया। विनोद खड़ा रहा कौतूहल में खोया हुआ। शोफ़र ने उसे रुके रहने का आदेश क्यों दिया, और वह फाटक के अन्दर क्यों गया? सुन्दरी कौन है? शायद कोई अभिनेत्री है। लेकिन उसने तो उसे किसी फ़िल्म में नहीं देखा। सम्भव है कि उसने किसी ऐसी फ़िल्म में अभिनय किया हो जिसे उसने न देखा हो। सब फ़िल्में वह देखता भी नहीं। क्या पाँसा पलटने वाला है? शायद; लेकिन—

पन्द्रह मिनट के बाद शोफ़र वापस आया। विनोद के हाथ में एक कार्ड देकर उसने कहा—"सात बजे शाम को मिस साहिबा से मिलिए। पता भी कार्ड पर लिखा हुआ है।"

विनोद ने कार्ड पर दृष्टि डाली। उस पर लिखा हुआ था—मिस छाया देवी।' कार्ड की दूसरी तरफ़ पेन्सिल से पता लिखा हुआ था।

"ये कौन हैं?"

"एक मशहूर एक्ट्रेस। बहुत-सी फ़िल्मों में काम कर चुकी हैं।

"इन्होंने क्यों बुलाया है मुझे? क्या ये मुझे······काम दिला सकेंगी?"

"वह जो कुछ करना चाहें, कर सकती हैं। कोई बात उनके बस के बाहर नहीं है।"

"अच्छा मैं आऊँगा शाम को।"

"नमस्ते!"

"नमस्ते!"

शोफ़र चला गया कार लेकर। विनोद कार्ड हाथ में लिए खड़े का खड़ा रह गया। तो क्या अब पाँसा पलटेगा ? सफलता के दर्शन होंगे ? यह झाँय-झाँय ख़त्म होगी ? कौन जाने ? स्वप्नों की कैसी धूप थी इलाहाबाद से बिदा होते समय ! वे स्वप्न—प्राणों में रस घोलने वाले, नक्षत्रों को छू लेने वाले वे स्वप्न। और यहाँ का यह वातावरण—यह शुष्क, कठोर वातावरण। लेकिन······ अब पाँसा पलटेगा शायद। शायद।

मुड़कर वह रवाना हो गया अपने होटल की ओर धीरे-धीरे। पैरों में वैसी शिथिलता अब नहीं थी। आशा फिर पनपने लगी थी।

सन्ध्या के समय विनोद उपस्थित हुआ उस घर के द्वार पर। एक वर्दी-पोश सेवक अन्दर लिवा ले गया। बड़ी सुन्दरता और सुरुचि से सजे हुए एक ड्राइङ्ग-रूम में विनोद ने प्रवेश किया। छाया ने स्वागत किया उठ कर।

"आइये !"

"नमस्ते !"

"नमस्ते !"

वह आगे बढ़ा।

"बैठिये।"

वह बैठ गया उस सोफ़े पर जिसकी ओर इशारा किया गया था। छाया भी बैठ गयी उसी सोफ़े पर। सब कुछ अत्यधिक सुन्दर, सब कुछ लक़-दक़। जैसे उड़ आया हो स्वप्न-लोक का एक छोटा-सा टुकड़ा !

"इलाहाबाद से आये हैं आप ?"

"जी हाँ।"

"अभिनय आपने किया है कभी ?"

"यों ही, थोड़ा-बहुत।"

"गाना आता है ?"

"जी हाँ, आता है कुछ-कुछ।

"कहाँ तक तालीम पाई है आपने ?"

"इस साल एम० ए० पास किया है।"

"बड़ी खुशी की बात है। अच्छा...तो कोई चीज़ सुनाइए।"

"कोई चीज़..."

"संकोच न कीजिये। फ़िल्म की दुनिया में संकोच के लिए स्थान नहीं है।"

"जी नहीं...माफ़ कीजिये...संकोच नहीं...मैं ज़रा..."

"कोई बात नहीं। मैं समझ रही हूँ। आप सोच लीजिए।"

"बात यह है कि सङ्गीत की कोई विशेष जानकारी मुझे नहीं है। यों ही गा लेता हूँ थोड़ा-बहुत।"

"कोई हर्ज नहीं। गले में रस हो, ताल और स्वर का ज्ञान हो। बस इतने ही से फ़िल्मों में काम चल जाता है। सङ्गीत की गहरी जानकारी हो या न हो।"

"कोई गज़ल सुनाऊँ ?"

"सुनाइये। मैं ग़ज़लों को बुरा समझने वालों में नहीं हूँ। यह तो सङ्गीत के जानकारों का एक खप्त है, और सिर्फ़ इसलिए कि ग़ज़लों में गलेबाज़ी के लिए ज़्यादा गुञ्जाइश नहीं रहती।"

"बेशक, बहुत ठीक फ़र्माया आपने।"

विनोद गुनगुनाने लगा धीरे-धीरे। छाया उठकर पियानो की ओर बढ़ी।

शुरू हुई 'ग़ालिब' की एक ग़ज़ल—

कोई तदबीर बर नहीं आती,
कोई सूरत नज़र नहीं आती।
पहले आती थी हाले-दिल पे हँसी,
अब किसी बात पर नहीं आती।
हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी,
कुछ हमारी ख़बर नहीं आती।'

विनोद गा रहा था। छाया पियानो पर साथ दे रही थी। रस बरस रहा था रिमझिम-रिमझिम। मनो-मुग्धकारी समाँ बँधा था।

ग़ज़ल समाप्त हुई। कमरे में सङ्गीतमय नीरवता छा गई। छाया उठी एक अजीब अदा से।

"ख़ूब गाते हैं आप! वाह!"

"यह आपकी मेहरबानी है, वर्ना मैं…"

"वर्ना मैं गाना-वाना क्या जानूँ!" हँस पड़ी छाया। "तो आपको बनना भी आता है?"

झेंप गया विनोद।

"ख़ैर, आप इन्कार करते हैं तो करें, लेकिन मैं इस बात की तसदीक कर सकती हूँ कि आपको गाना आता है और ख़ूब आता है।"

छाया फिर आ बैठी उसी सोफ़े पर।

"अच्छा, अब आप यह बतलाइए कि आपका नाम क्या है?"

"मुझे विनोद मोहन वर्मा कहते हैं।"

"आप एक्टर क्यों बनना चाहते हैं, मिस्टर वर्मा?"

"इसलिए कि मैं एक्टर बनना चाहता हूँ।"

"यानी?"

"यानी मुझे एक्टर बनने की प्रबल इच्छा है। और मुझे

विश्वास है कि मैं सफल एक्टर बन सकता हूँ।"

"मुझे भी ऐसा ही विश्वास हो रहा है। बात यह है, मिस्टर वर्मा, कि अक्सर लोग केवल धन कमाने के विचार से या कोई और काम न मिलने के कारण इस क्षेत्र में आ जाते हैं। ऐसे लोग कभी सफल अभिनेता नहीं बन पाते। अन्य कलाओं की तरह अभिनय-कला भी एक कठिन कला है, और पूर्ण मनोयोग से साधना करने ही से इसमें दक्षता प्राप्त की जा सकती है।"

"बहुत ठीक कहा आपने। लेकिन मेरी ओर से आप शंका न करें। अभिनय-कला में मुझे गहरी दिलचस्पी है और मेरी प्रवृत्तियाँ मुझे इस क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए प्रेरित कर रही हैं।"

"आपके विषय में मुझे कोई शंका नहीं है।"

ज़रा देर तक निस्तब्धता रही।

"तो आप मेरे लिये कुछ करेंगी ?"

"ज़रूर करूँगी। लेकिन आपको यह वादा करना होगा कि आप वही करेंगे जो कुछ मैं कहूँगी। मेरी सहायता से आप शीघ्र ही चोटी पर पहुँच आयेंगे, नहीं तो आप वर्षों एक साधारण अभिनेता ही बने रहेंगे।"

"धन्यवाद ! मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं वही करूँगा जो कुछ आप कहेंगी।"

"आप कहाँ ठहरे हुए हैं ?"

"यूनियन होटल में !"

"होटल जाकर आप अपना सामान ले आइये और यहाँ रहिए। यहाँ आपको पूरा आराम मिलेगा; कोई तकलीफ़ न होगी। चन्द दिनों में सब ठीक हो जायगा।"

"बेहतर है। आप बड़ी कृपा कर रही हैं मेरे ऊपर।"

हाथ बढ़ा कर छाया ने घंटी बजाई। एक सेवक तुरन्त हाज़िर हुआ।

"शिवचरन को बुलाओ।"

सेवक चला गया। दो मिनट के बाद शोफ़र हाज़िर हुआ।

"शिवरचन!"

"हुज़ूर!"

"गाड़ी लेकर आपके साथ यूनियन होटल जाओ। वहाँ से अपना सामान लेकर आप यहाँ आयँगे।"

"बहुत अच्छा, हुज़ूर।"

शोफ़र के साथ विनोद बाहर निकला और कार पर सवार हो कर होटल की ओर रवाना हो गया।

एक घंटे बाद वह वापस आया। सेवकों ने लपक कर उसका सामान उतारा, और उसे उस कमरे में लिवा ले गये, जो उसके लिए ठीक किया गया था।

अर्द्ध-रात्रि बीत चुकी है। लेकिन नींद नहीं है अभी तक विनोद की आँखों को। बिजली की रोशनी से वह सुसज्जित कमरा जग-मगा रहा है। एक आरामकुरसी पर लेटा हुआ विनोद सिगरेट पी रहा है। कैसा सुन्दर है यह घर, कैसी हैं यहाँ की तमाम चीज़ें! जैसे स्वप्न-लोक का टुकड़ा उतर आया हो भूलोक पर! कैसा विचित्र परिवर्त्तन हो गया चन्द घंटों के अन्दर, और कैसे सुन्दर ढंग से! जैसे अलादीन को जादू का चिराग़ मिल गया हो! अब उसे इधर-उधर भटकना नहीं पड़ेगा, सब कुछ आप ही आप हो जायगा। कैसी विचित्र है छाया! नारीत्व की कोमलतम भावनाओं की साकार मूर्त्ति है वह। साक्षात देवी है, देवी! कौन किसी के लिये कुछ करता है इस दुनिया में? वक्त पड़ने पर अधिकतर नाते-

दार भी मुख फेर लेते हैं, हीले-हवाले करते हैं, सहायता के बजाय उपदेश देते हैं। छाया इतना सब क्यों कर रही है उसके लिए ? इस लिये कि उसके हृदय में सहानुभूति है, दया है, ममता है, परमार्थ की भावना है—और यह सब है अत्यधिक मात्रा में ! कैसी विचित्र है छाया ! साक्षात देवी है, देवी ! जीवन भर वह उसका एहसान मानेगा। अब सब कुछ हो जायगा आप ही आप। जो कोई सुनेगा दङ्ग रह जायगा। मुख से तो कुछ नहीं कहेंगे, लेकिन बाबूजी भी दिल में खुश होंगे और उनका मलाल दूर हो जायगा। कितनी प्रसन्न होगी धारा ! उसके हृदय की रानी ! कैसी सुन्दर, कैसी प्यारी है धारा। एक दिन, शीघ्र ही एक दिन वह उसे ब्याह लायगा, और एक ऐसा ही सुन्दर घर उसे भेंट करेगा। सब कुछ वह उसे देगा, सब कुछ देगा। अभी उस दिन प्रयाग से यहाँ आने से पहले जब वह उससे बिदा लेने गया था, तो आँखों में अगाध अनुनय भर कर धारा ने कहा था, "मुझे भूल न जाना।" और उसका कोमल हाथ अपने हाथों में लेकर उसने वचन दिया था कि वह कभी किसी हालत में उसे न भूलेगा। उसे वह भूल सकता है ? हर्गिज़ नहीं, कभी नहीं। यह नहीं कि वैसी सुन्दर, वैसी प्यारी कोई नहीं। लेकिन उसके अन्तस्तल की गहराइयों में उसने अपने लिये जो स्थान बना लिया है, उससे कौन उसे वंचित कर सकता है ? कोई नहीं, कोई नहीं। कोई उस सुघर, सलोनी, भोली-भाली लड़की का स्थान नहीं ले सकता। धारा ! प्यारी धारा ! निश्चिन्त रहो, विनोद तुम्हारा ही है, किसी और का वह नहीं हो सकता। सपने ! सुन्दर, मनोहर सपने, रस की रंगीन घड़ियों में रचे हुए सपने ! पूरे होंगे, सब पूरे होकर रहेंगे।

दूसरे दिन सवेरे विनोद को साथ लेकर छाया बाज़ार गई।

ढेरों सामान ख़रीदा गया विनोद के लिये—सूटों और क़मीज़ों के कपड़े, हैट, कालर, टाई, जूते, वग़ैरा-वग़ैरा। दर्ज़ियों की एक प्रसिद्ध दूकान में कपड़े सिलने को दे दिये गये। विनोद चकित था, हैरान था।

"इन चीज़ों की क्या ज़रूरत है?" शुरू ही में विनोद ने नम्रतापूर्वक आपत्ति की।

"ज़रूरत की बात मैं आप से ज़्यादा समझती हूँ। बेकार दख़ल मत दीजिये।"

विनोद चुप हो गया।

चौथे दिन कपड़े सिलकर आ गये। छाया के आदेशानुसार हलके आसमानी रंग का नया सूट और ब्राऊन रंग के नये जूते पहिन कर विनोद छाया के सामने उपस्थित हुआ।

"नमस्ते।" हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर, मुस्कराकर विनोद ने कहा।

"नमस्ते।" हँसकर छाया ने उत्तर दिया। "खुश रहो! मनोकामना पूरी हो!"

विनोद भी हँसने लगा। दो क्षण तक छाया उसे सिर से पैर तक देखती रही।

"अब तुम ठीक दिख रहे हो, विनोद ठीक वैसे ही जैसे मैं तुम्हें देखना चाहती थी। कोई कमी नज़र नहीं आ रही है।"

"इसलिये कि छाया देवी एक सफल कलाकार हैं। धन्यवाद!"

"आज तुम्हें सेठ जी के सामने पेश करूँगी। उम्मीद है कि वह भी तुम्हें पसन्द करेंगे और तुम से मिल कर खुश होंगे।"

"सेठ जी! कौन सेठ जी?"

"कम्पनी के मालिक।"

"सचमुच ?"

"सचमुच ।"

"ओह ! तुम कितनी नेक हो, छाया ! तुम्हारा यह ऋण कभी अदा न कर सकूँगा। एक अनजान आदमी के लिये इतना सब तुम्हारे सिवाय शायद कोई नहीं कर सकता ।"

रात के दस बज चुके थे। आदेश पाकर विनोद ने ड्राइंग-रूम में प्रवेश किया ।

"आओ, विनोद बाबू;" छाया ने मुस्कराकर कहा ।

विनोद आगे बढ़ा सकुचाता हुआ, घबराता हुआ ।

"आप हैं सेठ निर्मलचन्द्र खनाका, पाँच मिलों और प्रभा मोवीटोन के मालिक। आप में कोई ऐब नहीं है, सिवाय इसके कि आपकी नाक ज़रा चपटी है। और आप हैं विनोद मोहन वर्मा। आप में कोई बुराई नहीं है, सिवाय इसके कि आप ज़रूरत से ज़्यादा सीधे हैं और कुछ-कुछ झेंपते हैं ।"

तुरन्त उठकर सेठजी ने उत्साहपूर्वक विनोद से हाथ मिलाया।

"आप से मिलकर मुझे बड़ी ख़ुशी हुई," सेठ जी ने कहा।

"धन्यवाद ! मुझे भी बड़ी ख़ुशी हुई आप से मिल कर ।"

सेठ जी बैठ गये छाया की बगल में। विनोद भी बैठ गया उसी सोफ़े पर ।

"विनोद बाबू इलाहाबाद से आये हैं, सेठ जी; और एक्टर बनना चाहते हैं ।"

"बड़ी खुशी की बात है ।"

"अभी हाल ही में इन्होंने एम० ए० किया है। बहुत से रास्ते इनके सामने थे, लेकिन इन्होंने एक्टर बनना ही पसन्द किया, इसलिये कि इन्हें अभिनय-कला से गहरी दिलचस्पी है। इनका

गला बड़ा सुरीला है और ये अभिनय भी बड़ी खूबी से कर लेते हैं।

"बहुत ठीक।"

फिर इधर-उधर की बातें होने लगीं। ज़रा देर के बाद छाया ने आँख से इशारा किया। विनोद उठ कर कमरे के बाहर चला गया।

"अच्छा, अब सुनिये, सेठ जी! अगली फ़िल्म में विनोद मेरे साथ नायक का पार्ट करेगा।"

"नायक का पार्ट।"

"हाँ, नायक का पार्ट।"

"वह तुम्हारा कोई रिश्तेदार है?"

"नहीं।"

"फिर वह कौन है तुम्हारा?"

"कोई नहीं।"

"कोई नहीं! तब उसकी इतनी सहायता क्यों करना चाहती हो?"

"यों ही। मज़ाक के तौर पर।"

"मज़ाक के तौर पर! मुझ से उड़ो मत, छाया!"

"बात ऐसी नहीं है, सेठ जी।"

"वह तुम्हारा कोई नहीं है? सच-सच कहो।"

"सच कहती हूँ, वह मेरा कोई नहीं है। आपको फ़िज़ूल का वहम हो रहा है।"

"वहम हो, तो बहुत अच्छा हो। लेकिन वहम नहीं मालूम होता यह।"

छाया निस्तब्ध रही।

"मैं जानता हूँ कि तुम भावुक हो, छाया! भावुकता बुरी नहीं होती, अगर वह अनियंत्रित न हो। लेकिन भावुकता पर नियंत्रण रख सकना आसान नहीं होता। और अनियंत्रित भावुकता के चक्कर में पड़ कर लोग अकसर विष को भी अमृत समझ बैठते हैं।"

"मैं उपदेश सुनना नहीं चाहती," छाया ने तुनुक कर कहा।

"नहीं, नहीं, छाया, मेरा यह मतलब नहीं था। मैं तुम्हें उपदेश देना नहीं चाहता। बात यह है कि मैं तुम्हें मानता हूँ, दिल से मानता हूँ। तुम भी यह अच्छी तरह जानती हो। इसलिये मेरा यह कर्त्तव्य है कि अगर खतरा देखूँ, तो तुम्हें चेतावनी दूँ।"

"अपने फ़ायदे और नुकसान की बात मैं खुद अच्छी तरह समझती हूँ। इसके बारे में आप चिन्ता न करें! आप सिर्फ़ यह बतलायें कि मेरी बात आपको मंजूर है या नहीं।"

"कौन-सी बात?"

"विनोद को कम्पनी में लेने और उसे अगली फ़िल्म में नायक का पार्ट देने की बात।"

"यह तो ज़रा टेढ़ा सवाल है। अच्छी तरह विचार करने के बाद ही इस मामले में फ़ैसला किया जा सकता है। सब से पहले उसकी योग्यताओं की परीक्षा करनी होगी। फिर यह देखना होगा कि वह नायक का पार्ट अच्छी तरह कर सकेगा या नहीं। फिर और बातों पर ग़ौर करना होगा।"

"तो आपको मेरी परख पर विश्वास नहीं है।"

"नहीं, नहीं बात ऐसी नहीं है, छाया! बात...बात, यह है कि देसाई और मुकर्जी की राय लेना भी ज़रूरी है। वे डायरेक्टर हैं और उन्हीं लोगों को एक्टरों से काम लेना पड़ता है। इसलिये..."

"देखिये, सेठजी, मुझे भी आपके फ़ायदे और नुकसान का उतना ही ख्याल है, जितना किसी और को हो सकता है, और मैं भी परखने वाली नज़र रखती हूँ। मैं दावे के साथ कहती हूँ कि अगर अगली फ़िल्म में विनोद मेरे साथ पार्ट करेगा, तो उस फ़िल्म से आपको जितना फ़ायदा होगा, उतना किसी और फ़िल्म से न हुआ होगा। उसे मैं एक नहीं, दस जगह काम दिला सकती हूँ, लेकिन मैं चाहती हूँ कि वह अपनी ही कम्पनी में रहे। इसीलिये इतना ज़ोर दे रही हूँ।"

"यह मैं जानता हूँ, छाया, कि तुम्हें मेरे फ़ायदे का पूरा ख्याल है। मैं आपत्ति न करता, लेकिन..."

"लेकिन वेकिन मैं नहीं सुनना चाहती। मैं तो बस आपका फ़ैसला सुनना चाहती हूँ। आप कम्पनी के मालिक हैं, और आप को हर मामले में फ़ौरन फ़ैसला करने के लिए तैयार रहना चाहिए। बोलिए, मेरी बात मंज़ूर है या नहीं ? यह याद रखियेगा कि अगर आप मेरी बात मंज़ूर न करेंगे, तो मैं आपसे कोई मतलब न रखूँगी।"

"अगर बात ऐसी है," छाया का हाथ अपने हाथों में लेकर सेठजी ने कहा, "तो मुझे मंज़ूर है। तुम्हें नाराज़ मैं नहीं कर सकता। तुम्हारे लिये मैं सब-कुछ कर सकता हूँ। तुम्हें मैं..."

"धन्यवाद !" सेठजी की आँखों से आँखें मिला कर छाया ने कहा।

बन गया काम। दूसरे ही दिन विनोद को नियुक्ति का पत्र मिल गया। वेतन पाँच सौ प्रति मास निश्चित हुआ। एक सप्ताह के बाद नई फ़िल्म का काम शुरू हो गया।

अच्छा वेतन है। सुन्दर घर है। सुन्दर, मनोरंजक, शान्तिप्रद

वातावरण है। समय बड़े मज़े में कट रहा है। असीम संतोष, अपार आनन्द भर गया है विनोद के मन में। कहीं किसी ओर कोई खटक नहीं है।

"इतना सब मेरे लिये क्यों कर रही हो, छाया ?" एक दिन विनोद ने पूछा।

क्या बिना किसी कारण कोई काम नहीं किया जाता ?"

"शायद किया जाता हो।"

कैसी अद्‌भुत, कैसी असाधारण नारी है छाया ! इतना बड़ा काम निर्लिप्त भाव से कर सकती है। देवी है, देवी।

विनोद को लेकर छाया ने जो योजना बनाई थी, वह ठीक ढंग से चल रही है। उसके प्रति विनोद की कृतज्ञता दिन-प्रति दिन बढ़ती जा रही है। बस, इसी की तो उसे ज़रूरत है, और सब वह ठीक कर लेगी।

"कितना सुन्दर था वह दिन जब सुन्दर पक्षी उसकी छत पर उतरा था ! पक्षी भूखा था। उसने चारा फेंका। पक्षी नीचे आ गाया। और अब वह उसके कब्ज़े में है। उसे वह पूरी तरह अपना बना लेगी और कभी कब्ज़े से बाहर नहीं होने देगी।

छाया के जीवन में एक सुनापन है। उसके प्रशंसकों और मित्रों की संख्या काफ़ी बड़ी है। कितने ही व्यक्ति उससे लगाव रखते हैं। लेकिन उसके जीवन का वह सूनापन ज्यों का त्यों बना हुआ है। विषमय बना हुआ है उसका जीवन उस सूनेपन के कारण। दूर करना है इस सूनेपन को, दूर करना है किसी तरह।

छाया सुखी नहीं है। सुख से वह घिरी हुई है, लेकिन वह सुखी नहीं है। जो सुख उसके चारों ओर छाया हुआ है वह उसके मन के अन्दर प्रवेश नहीं कर पाता। वह क्षुधित है। क्षुधा की अग्नि

प्रज्ज्वलित है उसके अन्दर अत्यधिक भयंकरता से। शान्त करना उस क्षुधा को, शान्त करना है किसी तरह।

यौवन मध्याह्न तक पहुँच गया है। शीघ्र ही वह ढलने लगेगा तब रूप-रस के प्यासे जो भौंरे आज उसे घेरे हुए हैं वे एक-एक करके खिसकने लगेंगे। क्या होगा तब? उसे कौन पूछेगा तब?

उसका कोई अपना नहीं है इस जग में। किसी अपने की उसे कितनी जरूरत है, यह उससे ज्यादा कोई नहीं जानता। अपनापन का दम भरने वाले अपने नहीं हैं, यह अच्छी तरह वह जानती है। किसी को अपना बना लेना है किसी तरह, ताकि जीवन का शेष मार्ग आसानी से तय किया जा सके।

कितने ही व्यक्ति उसके जीवन में आये। लेकिन कोई टिक नहीं सका, कोई मन के सूनेपन को मिटा नहीं सका, कोई क्षुधा शान्त नहीं कर सका, कोई अपना बन नहीं सका। और अब आ गया है विनोद। असाधारण रूप, यौवन और व्यक्तित्व की निधियाँ लेकर। मन की पीर बढ़ गई है, क्षुधा तीव्रतम हो गई है। किन्तु आशा फिर पनप उठी है, स्वप्न फिर उड़-उड़ कर आने लगे हैं अतीत के वक्ष से निकल-निकल कर। हाथ से नहीं जाने देगी वह उस सुन्दर पंछी को। सब कुछ देकर उसे अपना लेने का प्रबलतम प्रयत्न वह करेगी।

योजना चल रही है ठीक-ठीक ढंग से, मनोनुकूल रीति से।

चार मास व्यतीत हो चुके हैं। फिल्म बन चुकी है और इसी बम्बई नगर के एक प्रसिद्ध सिनेमा-भवन में दिखाई जा रही है। धूम मच गई है उस फ़िल्म की। दर्शक पिले पड़ते हैं उसे देखने को। बहुतों को जगह नहीं मिलती। हर सिनेमा-प्रेमी की ज़बान पर उसकी तारीफ़ हैं। समाचार-पत्रों में भी प्रशंसात्मक लेख निकल

रहे हैं। दर्शकों का कहना है कि ऐसी सुन्दर जोड़ी रजत-पट पर पहले कभी नहीं उतरी। एक से एक बढ़ कर है।

सेठ जी बेहद खुश हैं। अभी कल ही एकान्त में उन्होंने छाया से कहा था, " जान पड़ता है, तुम्हारा अनुमान ठीक उतरेगा। अभी जो रंग है, उसे देखने से मालूम होता है कि इस फ़िल्म से जितनी आमदनी होगी, उतनी शायद किसी फ़िल्म से न हुई होगी।"

"अब तो आप क़ायल हो गये मेरी परख के?"

"बेशक क़ायल हो गया।"

और आज अभी सेठजी ने अपनी कोठी में छाया और विनोद के सम्मान मे एक शानदार दावत दी। दावत में दोनों की तारीफ़ के खूब-खूब पुल बाँधे गये।

कार घर की ओर तेज़ी से चली जा रही है। छाया विनोद से सटी बैठी है। काश, इसी तरह वे हमेशा चलते रहें एक-दूसरे से सटे सटे! काश, इसी तरह चलते-चलते जीवन की शेष यात्रा समाप्त हो जाय! लेकिन...क्या सम्भव है ऐसा होना? नहीं, नहीं, वह उसे कभी अपने से अलग न होने देगी, किसी तरह नहीं।

छाया उलझी हुई है स्वप्नों में। विनोद भी उलझा हुआ है स्वप्नों में। और कार चली जा रही है सुव्यवस्थित गति से।

घर आ गया। कार पोर्टिको में रुकी। छाया चौंक पड़ी। विनोद भी चौंक पड़ा। एक सेवक ने लपक कर कार का दरवाज़ा खोला। विनोद उतर पड़ा। उसके कन्धे का सहारा लेकर छाया भी उतरी। फिर हाथ में हाथ दिये दोनों पहुँचे ड्राइङ्ग-रूम में। दोनों बैठ गए एक सोफ़े पर, एक दूसरे से सटे हुए।

"आज मेरी ख़ुशी की हद नहीं है, विनोद!" मुस्करा कर, विनोद की नज़र से नज़र मिला कर छाया ने कहा।

"जो कुछ है तुम्हारी बदौलत है, छाया !"

छाया उठ कर उस ओर रखे हुए कप-बोर्ड के समीप गई। एक सुन्दर शीशे के गिलास में सुनहरी मदिरा लेकर वह वापस आई।

"नहीं, माफ़ करो, छाया ! पीने का मैं आदी नहीं हूँ। सेठ जी के यहाँ ज़बरदस्ती पीनी पड़ी। अब और पीऊँगा, तो ज़्यादा हो जायगी।"

"नहीं, ज़्यादा न होगी। पी लो, मेरी ख़ातिर पी लो।"

तब उसने पी ली अनिच्छापूर्वक। ख़ाली गिलास लेकर वह फिर कप-बोर्ड के पास गई और एक पेग खुद भी पीकर वापस आई।

"एक दिन तुमने मुझसे पूछा था, विनोद," सोफ़े पर विनोद की बग़ल में बैठकर छाया ने कहा, "कि तुम्हारे लिये मैं इतना सब क्यों कर रहा हूँ ?"

"हाँ, मैंने पूछा था, और आज भी वह प्रश्न मेरे मन में मौजूद है !"

"उस दिन मैंने टाल दिया था। आज सुनोगे कारण ?"

"ज़रूर सुनूँगा।"

"लो सुनो। बात यह है कि...मैं तुम्हें चाहती हूँ, सम्पूर्ण मन से चाहती हूँ, अपने हृदय के सिंहासन पर तुम्हें प्रतिष्ठित कर चुकी हूँ, तुम्हारी आराधना करती हूँ।"

स्तब्ध रह गया विनोद।

"मैं सुख से घिरी हूँ, लेकिन सुखी नहीं हूँ। तुम मुझे सुखी कर सकते हो, विनोद।"

मूर्त्तिवत् बैठा है विनोद ! कुछ कह सकना असम्भव है उसके लिये ।

"मेरे मन में भयानक सूनापन है, विनोद ! मैं अत्यधिक क्षुधित हूँ । तुम मेरे मन के सूनेपन को मिटा सकते हो, तुम मेरी क्षुधा शान्त कर सकते हो ।"

निस्तब्ध, निश्चल बैठा है विनोद ! क्या कहे वह ?

"मेरा अपना कोई नहीं है इस दुनिया में । एक जीवन-संगी की मुझे ज़रूरत है, विनोद ! विनोद । बनोगे मेरे ?"

वैसे ही गुम-सुम बैठा है विनोद । जैसे गूँगा हो गया हो एकाएक ।

"बोलो, प्यारे विनोद, बोलो ! जवाब दो मेरे प्रश्न का ?"

और छाया की सुन्दर, सुगौर, सुकोमल बाँहें लिपट गईं विनोद के गले में । चौंक पड़ा विनोद ।

"बोलो, प्यारे बोलो ? मैं नहीं सह सकती यह ख़ामोशी ।"

"मुझे इस समय माफ़ करो, छाया ! मेरी तबीअत ठीक नहीं है ।"

"नहीं, नहीं, उत्तर तुम्हें देना ही पड़ेगा इस समय ।"

"उत्तर ?"

"हाँ, उत्तर ।"

"मजबूर करती हो तो सुन लो इसी समय । तुम्हारे लिये मेरे मन में अपार श्रद्धा है, तुम्हारी पूजा करता हूँ, जीवन भर तुम्हारा एहसान न भूलूँगा । लेकिन तुम्हारा जीवन-सङ्गी मैं नहीं बन सकता ।"

अलग हो गईं छाया की बाहें विनोद के गले से ।

"नहीं बन सकते मेरे जीवन-संगी ! क्यों ?"

"इसलिये कि मैं स्वतंत्र नहीं हूँ।"

"कौन सी बाधा है तुम्हारे सामने !"

"एक दूसरी लड़की को प्यार करता हूँ और उसे विवाह का वचन दे चुका हूँ।

"उस लड़की को बहुतेरे वर मिल जायँगे, लेकिन मेरी ज़िंदगी ख़राब हो जायगी। मैं बर्बाद हो जाऊँगी।"

"माफ़ करो, छाया !"

"तुम मेरी अन्तिम आशा हो। मुझसे मत छीनो मेरी अन्तिम आशा। भूल जाओ उस लड़की को।"

"मैं मजबूर हूँ, छाया, अपने दिल से मजबूर हूँ। माफ़ करो मुझे।"

वह उठ खड़ा हुआ।

"तो तुम नहीं मानोगे मेरी बात ?"

"मैं असमर्थ हूँ। मुझे माफ़ करो।"

क्रोध, भयानक क्रोध उमड़ पड़ा छाया के हृदय में।

"नारी अबला है, विनोद, लेकिन अपमानित होकर, पददलित होकर वह सर्पिणी भी बन सकती है।"

"यह मैं जानता हूँ, लेकिन मजबूर हूँ। क्षमा माँगने के सिवाय मैं क्या कर सकता हूँ ? मुझे माफ़ करो।"

वह लड़खड़ाता हुआ बढ़ा दरवाज़े की ओर।

"मत जाओ, विनोद, लौट आओ मेरे पास। मत जाओ मत जाओ।"

और वह उठकर लपकी उसके पीछे। लेकिन विनोद तेज़ी से कमरे के बाहर हो गया।

सिर चकरा गया। छाया लड़खड़ाकर फ़र्श पर गिरी, बिलख-बिलखकर फफक-फफक कर रोने लगी। लग रहा था जैसे दिल टुकड़े टुकड़े होकर आँसुओं की धारों में बह जायगा, जैसे उसका सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा, जैसे सब-कुछ भस्म होकर राख हो जायगा।

बाहर जाकर विनोद ने एक सेवक को टेक्सी लाने की आज्ञा दी। फिर अपने कमरे में जाकर वह तेज़ी से अपना असबाब बाँधने लगा। टैक्सी आ गई दस मिनट में, तब अपना सामान उस पर लदवाकर, नौकरों को इनाम देकर, वह बिदा हो गया उस घर से।

आँसू सूख गये हैं छाया की आँखों के। ड्राइंग-रूम में एक कोच पर पड़ी हुई वह छत की ओर शून्य दृष्टि से ताक रही है। मन की पीर असहनीय हो उठी है। ऐश्वर्य का वह सारा वातावरण जैसे काटे खा रहा है। सब कुछ जैसे निरर्थक प्रतीत हो रहा है। प्रीति घृणा में परिणत हुई जा रही है। क्रोध भभक उठना चाह रहा है। नारी अबला है, लेकिन अपमानित होकर, पददलित होकर वह सर्पिणी भी बन सकती है! सर्पिणी! सब-कुछ बन सकती है वह!

रात भर वह सो नहीं सकी। दूसरे दिन स्टूडियो नहीं जा सकी। तीसरे पहर सेठ जी दौड़े आये।

"क्या बात है, छाया?" शयनागार में पहुँच कर उन्होंने चिन्तित स्वर में पूछा।

"तबीअत ठीक नहीं है।"

वह उठकर बैठ गई।

"क्या तकलीफ़ है?" उसके समीप बैठकर सेठ जी ने प्रश्न किया।

"कोई ख़ास तकलीफ़ नहीं है।"

"नहीं, बात तो ऐसी नहीं मालूम होती। तुम्हारा चेहरा बतला रहा है कि तुम्हें कोई सख्त तकलीफ़ है।"

छाया निस्तब्ध रही।

"क्या बात है, छाया? बोलो।"

छाया की आँखों से आँसू ढुलकने लगे।

"अरे! यह क्या कर रही हो तुम क्या बात है? क्या बात है?" और अपने रूमाल से उन्होंने उसके आँसू पोंछे।

आँचल में मुख छिपाये हुए छाया कुछ समय तक ख़ामोश बैठी रही। चित्त सँभाला।

"आपकी कम्पनी से अब अलग ही होना पड़ेगा, सेठजी।"

"यह क्या कह रही हो, छाया? तुम न रहोगी, तो कम्पनी रहकर क्या करेगी?"

"कम्पनी रहे, लेकिन मैं तो अब उसमें काम न कर सकूंगी।"

"इसकी वजह? मुझसे क्या कुसूर हुआ?"

"आप ने कुछ नहीं किया।"

"तब?"

"बात यह है कि विनोद जिस कम्पनी में रहेगा उसमें मैं नहीं रह सकूँगी।"

"अच्छा, यह बात है!"

"हाँ, यही बात है। जिसको मैंने अमृत समझा था, वह विष निकला। उस दिन आपने मुझे जिस ख़तरे की चेतावनी दी थी, वह काल्पनिक नहीं वास्तविक था।"

"ख़तरे की चेतावनी मिल जाने पर उससे बचा जा सकता है।"

"अब बचत नहीं हो सकती। मैं गले तक फँस गई हूँ।"

"देखो, छाया, तुम भावुक हो, बहुत ज़्यादा भावुक हो। सारे फ़साद की जड़ यही भावुकता है। इसे क़ाबू में कर लो, तो सारा फ़साद मिट जाय।"

"फ़साद अब मिट नहीं सकता।"

"तब क्या इच्छा है तुम्हारी ?"

"यही कि अब आपकी कम्पनी में न रहूँ।"

"यह नहीं हो सकता छाया! तुम्हारे ही कहने से मैंने विनोद को अपनी कम्पनी में लिया था। अब स्थिति ऐसी है, तो आज ही मैं उसे जवाब दे दूँगा। फ़ायदे, नुक़सान का ख़्याल न तो मैंने पहले किया था और न अब करूँगा।"

ज़ख़्म पर जैसे मरहम लग गया। छाया निस्तब्ध रही।

"कहाँ है विनोद ?"

"मैं नहीं जानती।"

"स्टूडिओ तो वह आज गया नहीं। फिर वह कहाँ गया ?"

"जहाँ चाहे जाय। मुझ से कोई मतलब नहीं।"

कोई किसी का नहीं है इस जग में। सब-कुछ मिथ्या है, सब कुछ निरर्थक है। प्रीति, मैत्री, दया, करुणा—किसी का कुछ मूल्य नहीं है। दावानल दहक रहा है चारों ओर, और सब-कुछ जैसे भस्म हुआ जा रहा है उसमें। निबिड़ अंधकार घिरा आ रहा है चारों ओर, और सब-कुछ जैसे विलीन हुआ जा रहा है उसमें। भस्म हो जाने दो उसे उस दावानल में, विलीन हो जाने दो उसे उस अंधकार में। कोई उसे बचाने की कोशिश न करे, किसी की सहायता की उसे ज़रूरत नहीं। सारी दुनिया से वह घृणा करती है, घृणा! सब-कुछ बन सकती है नारी—करुणामयी भी, सर्पिणी भी!

(३)

प्रभा मूवीटोन से अलग होकर विनोद अब एक दूसरी फ़िल्म कम्पनी में चला गया है। दूसरी कम्पनी में जगह पाने में कोई दिक्कत पेश नहीं आई, क्योंकि प्रसिद्धि से बढ़कर कोई सिफ़ारिश नहीं हो सकती। छाया को एक लम्बा पत्र लिखकर वह अपनी स्थिति और भी स्पष्ट कर चुका है। उस पत्र का कोई उत्तर उसे नहीं मिला। उससे उसने मिलना भी चाहा, लेकिन छाया ने मिलना स्वीकार नहीं किया। फिर भी छाया के प्रति उसके हृदय में सम्मान है, श्रद्धा है, एहसान की भावना है।

विनोद का तार पाकर, ब्रजेश अपनी बहिन, धारा, को साथ लेकर बम्बई आ गया है। विनोद उसका अनन्य मित्र है, और अपने उस मित्र के लिये वह सब-कुछ कर सकता है। सब-कुछ पहले ही से तय था। और फिर बहिन के प्रति अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होने के इस स्वर्ण अवसर को वह कैसे हाथ से जाने दे सकता है?

विनोद के पिता जी भी बम्बई आ गये हैं। पुत्र के प्रति अब उनके दिल में कोई मलाल नहीं है।

विवाह का शुभ संस्कार कल शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो गया। धारा और विनोद के हर्ष का पारावार नहीं है। ब्रजेश भी प्रसन्न है। पिता जी भी प्रसन्न हैं। नई रोशनी का ज़माना है। विवाह के मामले में अब माता-पिता की उतनी ज़िम्मेदारी नहीं रही। लड़के लड़कियाँ अब खुद ही सब-कुछ कर लेना चाहते हैं। अगर कोई विशेष हानि न दिखाई दे, तो माता-पिता का दख़ल न देना ही अच्छा है।

और आज रात को दावत है। दावत विनोद के पिता जी दे रहे हैं। फ़िल्म-व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अतिरिक्त कितने ही सरकारी और ग़ैर-सरकारी गण्य-मान्य सज्जन निमंत्रित किये गये हैं। छाया के पास भी निमंत्रण-पत्र गया है। सेठजी भी निमंत्रित किये गये हैं।

ग्रेट ईस्टर्न होटल का एक बड़ा कमरा बड़ी सुन्दरता से सजाया गया है। कमरे के मध्य में एक लम्बी, बड़ी मेज़ पड़ी हुई है। मेज़ के चारों ओर निमंत्रित सज्जन आसीन हैं। छाया नहीं आई। सेठजी आये हैं।

खाना चल रहा है। वेटर प्लेटें लेकर दौड़ रहे हैं। हास-परिहास की ध्वनियाँ गूँज रही हैं। धारा विनोद की बगल में आसीन है। बड़ी सुन्दर लग रही है वह जोड़ी।

भोजन समाप्ति पर है। अब स्वास्थ्य-कामना की बारी है। शैमपियन ढाली जा रही है गिलासों में।

मदिरा से भरा हुआ गिलास हाथ में लिये हुए एक महाशय उठ कर खड़े हो गये हैं, गला साफ़ कर रहे हैं वह।

ऐं! यह झुके क्यों जा रहे हैं? क्या हुआ जा रहा है इन्हें? अरे—अरे?

और झटके से झुक कर विनोद का सिर मेज़ से टकरा गया। धारा चीख पड़ी। खलबली मच गई।

"अरे क्या हुआ—क्या हुआ?"

"हवा करो, हवा!"

"पानी लाओ, जल्दी पानी लाओ!"

"यहाँ नहीं— यहाँ नहीं। इन्हें दूसरे कमरे में ले चलो।"

अचेत विनोद को उठा कर लोग ले चले उस कमरे से बाहर।

"डाक्टर—डाक्टर ! जल्दी बुलाओ किसी डाक्टर को ।"

एक खाली शयनागार में विनोद लेटा दिया गया बिस्तरे पर। पानी के छींटे दिये जाने लगे। हवा की जाने लगी। लेकिन होश आने के लक्षण प्रकट नहीं हुए।

एक डाक्टर आया। लोग हट गये रोग-शय्या के पास से। डाक्टर परीक्षा करने लगा ध्यानपूर्वक।

"ज़हर का असर है," कान से स्टेथेस्कोप की खूँटियाँ निकालते हुए डाक्टर ने कहा,—"इन्हें ज़हर दिया गया है। फ़ौरन गर्म पानी मँगवाइये।"

"ज़हर ? आप क्या कह रहे हैं, डाक्टर साहब ?"

"बिलकुल ठीक कह रहा हूँ। सन्देह की कोई गुञ्जाइश नहीं है !"

सन्नाटा छा गया कमरे में।

"आप ने क्या कहा, डाक्टर साहब ?" एक सरकारी अफ़सर ने आगे आकर कहा। "इन्हें ज़हर दिया गया है ?"

"बेशक, इन्हें ज़हर दिया गया है," अपने बेग को खोलते हुए डाक्टर ने उत्तर दिया।

अफ़सर महोदय मुड़े, और झपट कर कमरे से बाहर निकल गये। तेज़ी से टेलीफ़ोन बाक्स में जाकर वह टेलीफ़ोन करने लगे।

पन्द्रह मिनट के अन्दर पुलीस का एक दल का पहुँचा। होटल के सामने पहरा बैठ गया। होटल के तमाम कर्मचारी एक कमरे में बन्द कर दिये गये। एक-एक कर के प्रत्येक कर्मचारी से अच्छी तरह पूछ-ताछ की जाने लगी। कड़ाई से जाँच की जाने लगी।

एक घण्टा बीता। एक ऐम्बुलेंस कार आकर होटल के सामने रुकी। स्ट्रेचर पर लाद कर विनोद बाहर लाया गया। सावधानी से

स्ट्रेचर कार में रख दिया गया। विनोद अब भी बेहोश था। एम्बुलेंस-कार चली गई। डाक्टर, धारा और ब्रजेश एक दूसरी कार पर सवार होकर उसके पीछे रवाना हो गये।

एक घंटा और निकल गया; एकाएक एक इंस्पेक्टर और एक सार्जेंट बाहर निकले और एक कार पर सवार होकर एक ओर रवाना हो गये।

तेज़ी से चली जा रही है वह कार, बड़ी तेज़ी से चली जा रही है। कहाँ जा रही है वह ?

अरे ! यह तो छाया का बँगला है ? इस बँगले में वह कार क्यों घुस रही है ?

कार रुकी पोर्टिको में। दोनों अफ़सर उतर पड़े तेज़ी से। दरवान हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ।

"छाया देवी कहाँ हैं ?" इंस्पेक्टर ने पूछा।

"ड्राइंग-रूम में हैं, हुज़ूर।"

"हमें उन से मिलना है।"

"तो आप लोग बैठिये," सहमी हुई आवाज़ में दरवान ने कहा "मैं जाकर इत्तला करता हूँ।"

"नहीं, हम साथ चलेंगे। आओ जल्दी।"

दरबान ने दिखला दिया ड्राइंग-रूम। दोनों अफ़सरों ने आगे बढ़ कर दबे-पाँव ड्राइंग-रूम में प्रवेश किया।

छाया एक सोफ़े पर सिर पकड़े बैठी हुई थी। सामने लगी हुई छोटी मेज़ पर ह्विस्की की एक बोतल रखी थी और शीशे का एक गिलास।

"मिस छाया देवी ?"

चौंक पड़ी छाया। फ़क़ हो गया उसका चेहरा।

"हम आपको गिरफ्तार करने आये हैं।"

"गिरफ्तार करने आये हैं ? किस जुर्म में ?"

"मिस्टर विनोद मोहन वर्मा को ज़हर दिलवाने के जुर्म में। वेटर छन्नूमल ने जुर्म क़बूल कर लिया है।"

तेज़ी से आगे की ओर झुककर छाया ने अपना दाहिना हाथ सोफ़े के नीचे डाल दिया। उसने तेज़ी दिखलाई, लेकिन सार्जेंट ने उससे भी ज़्यादा तेज़ी दिखलाई। पेशतर इसके कि छाया सोफ़े के नीचे से रिवाल्वर निकाल सके, सार्जेंट ने उसे पकड़ लिया। तब छाया चुपचाप चली गई उन लोगों के साथ।

विनोद बच तो गया, लेकिन हफ़्तों उसकी हालत नाज़ुक बनी रही।

बीस दिन के बाद मुकद्दमा शुरू हुआ। छाया की ओर से बड़ी सरगर्मी से पैरवी की जाने लगी। कई नामी वकील किये गये। अन्य लोगों के अतिरिक्त विनोद की शहादत भी ली गई। अपने बयान में उसने कहा—"छाया देवी को मैं मित्र मानता हूँ। मेरे ऊपर उन्होंने बड़ा एहसान किया था। इधर वह मुझ से नाराज़ ज़रूर हो गई थीं, लेकिन मेरी राय में उनकी यह नाराज़गी इतनी अधिक नहीं थी कि वह मुझे ज़हर दिलवातीं। उनका एहसान मैं कभी नहीं भूल सकता।"

छाया के वकीलों ने बहुत ज़ोर मारा, लेकिन सबूत अकाट्य साबित हुए। अदालत ने छन्नूमल को दस वर्ष की और छाया को सात वर्ष की सज़ा दी।

हाईकोर्ट में अपील की गई। लेकिन उसने भी अदालत मातहत का फ़ैसला बहाल रखा।

जेल में विनोद ने कई बार छाया से मिलने की कोशिश की.

लेकिन हर बार उसने उससे मिलने से इनकार किया। फिर भी छाया के प्रति विनोद का भाव ज्यों का त्यों बना रहा।

(४)

सात वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। विनोद की ख्याति अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई है। और अब उसकी भी एक कम्पनी बन गई है। पति-परायणा धारा के साथ वह सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा है। कहीं किसी ओर कोई खटका नहीं है। हाँ, कभी-कभी जब छाया का ख्याल आ जाता है, तो उसके मन में गहन अवसाद उमड़ आता है, और फिर वह घंटों उदास बना रहता है।

"कुछ सुना आप ने, विनोद बाबू?" एक दिन उसके एक पुराने मित्र, गोखले, ने कहा।

"नहीं तो। सुनाओ।"

"छाया जेल से छूटकर आ गई है।"

"कब आई छूट कर?"

"यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन कल मैंने उसे चौपाटी में देखा था।"

"क्या हाल है उसका? बात की थी तुमने?"

"नहीं, उसने मुझे बात करने का मौक़ा नहीं दिया। उसे देख उसके सामने जाकर मैंने नमस्ते किया, लेकिन उसने उत्तर नहीं दिया। एक बार मेरी ओर देख कर वह आगे बढ़ गई। तब मैं उसके पीछे हो लिया। इस तरह मैंने उस घर का पता लगा लिया, जिसमें वह ठहरी हुई है। उस घर के मालिक से मिलने पर मुझे उस कमरे का नम्बर भी मालूम हो गया, जिसमें वह ठहरी हुई है।"

"मुझे वहाँ लिवा चलोगे, गोखले?"

क्यों नहीं ? ज़रूर लिवा चलूँगा।"

"कब ?"

"जब कहिये।"

"आज शाम को ?"

"शाम को ही सही।"

"तुम साढ़े छ: बजे मेरे घर आ जाना, गोखले। वहीं से दोनों आदमी चलेंगे।"

"अच्छी बात है।"

और उसी दिन शाम को गोखले के साथ वह उस घर के सामने पहुँचा। गोखले को कार में छोड़कर वह घर के अन्दर गया। कमरा खोजने में कोई दिक़्क़त नहीं हुई। कमरे का दरवाज़ा बन्द था। पास जाकर उसने धीरे से दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़ा खुला। छाया सामने खड़ी थी। कितनी बदल गई थी वह !

"नमस्ते !" हाथ जोड़कर विनोद ने कहा।

छाया पीछे हट गई। जैसे भूत देखा हो उसने ! विनोद ने कमरे में प्रवेश किया।

"तुम क्यों आये हो यहाँ ?"

"तुमसे मिलने के लिये, तुम्हारा हाल-चाल पूछने के लिये।"

"हाल-चाल पूछने के लिये ! मेरा सब-कुछ खा लेने पर भी तुम्हारी भूख नहीं मिटी ? अब क्या खाओगे—यह ठठरी ?"

"छाया !"

"मैं तुम से घृणा करती हूँ, सम्पूर्ण मन से घृणा करती हूँ। चले जाओ यहाँ से।"

"यह देखकर मुझे सख़्त अफ़सोस हो रहा है, छाया, कि तुम अभी तक मुझे माफ़ नहीं कर सकीं। आज भी मेरे हृदय में तुम्हारे

लिये वैसी ही श्रद्धा है, आज भी उसी तरह मैं तुम्हारा एहसान मानता हूँ। मुझे माफ़ करो, छाया!"

"मैं कुछ नहीं सुनना चाहती," छाया ने गरजकर कहा। "चले जाओ ...चले जाओ ''चले जाओ।"

जेब से पर्स निकाल कर, चुपके से मेज़ पर बाहर रखकर विनोद लड़खड़ाता हुआ कमरे से निकल गया।

तब दरवाज़ा बन्द करके छाया बिस्तर पर जा बैठी और फ़र्श की ओर ताकने लगी। बड़ी देर तक वह उसी तरह बैठी रही। फिर वह उठ कर उस ओर दीवार में लगी हुई आलमारी के समीप गई। आलमारी से शराब की बोतल और गिलास निकालकर वह फिर बिस्तर पर आ बैठी।

पीने लगी वह। पीते-पीते वह बदमस्त हो गई। तब बिस्तर के नीचे से उसने एक पुराना, बदरङ्ग फ़ोटो निकाला और उसे ध्यान-पूर्वक देखने लगी। देखते-देखते आँसू जारी हो गये उसकी आँखों से। तब उस फ़ोटो को सीने से लगाकर वह फफक-फफक कर रोने लगी। वह फ़ोटो किसी और का नहीं विनोद ही का था।

रोते-रोते वह कब सो गई, वह नहीं जानती।

खट-खट-खट! खट-खट-खट।

चौंककर छाया ने आँखें खोलीं। दिन चढ़ आया था। कोई दरवाज़ा खटखटा रहा था।

वह उठी। सिर चक्कर खा गया। उसने दीवार का सहारा लिया।

खट-खट-खट! खट-खट-खट!

दीवार के सहारे धीरे-धीरे आगे बढ़ कर उसने दरवाज़ा खोला मकान-मालिक का मुनीम सामने खड़ा था।

"क्या है ?"

"सरकार कहते हैं कि अगर आप एक महीने का पेशगी किराया न दे सकें, तो कमरा खाली कर दें।"

"अच्छा।"

"क्या कह दूँ ?"

"कह दो कि इन्तज़ाम करूँगी।"

"हो सका तो शाम तक दूँगी, नहीं तो कल सवेरे तक ज़रूर दूँगी।"

"अच्छा।"

मुनीम चला गया। दरवाज़ा बन्द करके वह फिर बिस्तर पर आ बैठी। अब क्या करना होगा ? किराया कहाँ से आयगा ? ओफ़ ?

अरे। वह क्या है—क्या है ? पर्स ! तेज़ी से उठ कर, पर्स उठा कर, खोल कर वह देखने लगी। पर्स में पाँच हज़ार रूपये के नोट थे, और एक कार्ड था। कार्ड पर लिखा था—विनोद मोहन वर्मा

छाया की आँखों से आँसू ढुलक-ढुलक कर नोटों पर गिरने लगे।

जीवन के सपने

डेढ़ वर्ष तक रोग-शय्या पर एड़ियाँ रगड़ने के बाद सुखमा के पिता चल बसे। वकील थे, वकालत चलती थी। एक छोटा-सा बँगला था, बैंक में काफ़ी रुपये थे। हर तरह का इलाज करा चुकने के बाद जब वह जीवन से निराश हो गये, तो उन्होंने अपना वसीयतनामा तैयार करवाया और उसकी रजिस्टरी करा दी। सब कुछ उन्होंने बेटी के नाम कर दिया। अपने बैंक को उन्होंने आदेश दे दिया कि जब तक सुखमा बालिग न हो जाय, तब तक उसकी परवरिश के लिए प्रतिमास एक निश्चित रकम उनकी साली श्रीमती कुन्तीदेवी को दे दी जाया करे। सुखमा की मौसी को एक दिन अपने पास बुलाकर उन्होंने कहा—अब मैं बचूँगा नहीं, कुन्ती! सुखमा बड़ी अभागी है। माँ पहले ही मर चुकी थी, अब बाप भी जा रहा है। तुम्हारे सिवाय अब उसका कोई नहीं रह जायगा। इसलिए उसकी देख-रेख का भार अब तुम्हीं को उठाना पड़ेगा। बहुत से रिश्तेदार हैं, कुछ मित्र भी हैं; लेकिन तुम्हारे सिवाय मुझे किसी के ऊपर विश्वास नहीं है। सुखमा की देख-रेख सावधानी से करना, उसे अच्छी तरह पढ़ाना-लिखाना, और जब वह सयानी

हो जाय, तो उसकी इच्छानुसार किसी सुयोग्य वर से उसका विवाह कर देना। ईश्वर तुम्हें इस निष्काम सेवा का फल देगा।

मौसी रोने लगीं—बिलख-बिलख कर रोने लगी।

"रोओ मत, कुन्ती! ईश्वर की इच्छा के सामने मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य नहीं। जो होने को होता है, वह होकर रहता है। कोई उसे रोक नहीं सकता। इसलिए जो कुछ हो, उसे शान्ति-पूर्वक सहन करना चाहिये। बोलो, सुखमा की देख-रेख करोगी? तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है?"

"नहीं," मौसी ने रोते रोते कहा, "मुझे कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन आप निराश न हों, अच्छे हो जायँगे।"

ज़रा देर तक उन्हें सान्त्वना देने के बाद वकील साहब ने कहा—अच्छा अब तुम जाओ, कुन्ती! मेरी बातें ध्यान में रखना।

उठ कर मौसी लड़खड़ाती हुई दरवाज़े की ओर बढ़ी। लग रहा था जैसे उन्होंने एकाएक गहरी चोट खाई हो।

"बदलू को भेज देना।"

"अच्छा!"

दो मिनट के बाद बदलू ने कमरे में प्रवेश किया। बदलू वकील साहब का विश्वासपात्र सेवक था। उन्हीं की सेवा में उसने अपने बाल सफ़ेद किये थे।

"पास आ जाओ, बदलू," उसकी ओर देख कर वकील साहब ने कहा।

बदलू सकपकाया हुआ आगे बढ़ा और रोग-शय्या के समीप पहुँच कर खड़ा हो गया।

"मेरा आखिरी वक्त नज़दीक आ गया है, बदलू ! अब शायद दो-चार दिन से ज़्यादा नहीं चल सकूँगा। तुमने बड़ी ईमानदारी और वफ़ादारी से मेरी सेवा की है, मैं तुमसे बहुत खुश हूँ। मेरे बाद भी इसी तरह इस घर की देख-रेख और सेवा-टहल करते रहना। किसी दूसरी जगह मत जाना। जिस तरह आज तुम्हें तनख्वाह और खाना-कपड़ा मिल रहा है, उसी तरह आगे भी मिलता रहेगा। मंजूर है न ?"

बदलू की आँखों से आँसू ढुलकने लगे। वह कोई उत्तर नहीं दे सका।

"तुम्हें कोई उज्र तो नहीं है; बोलो ?"

"नहीं, सरकार," बड़ी कठिनाई से बदलू उत्तर दे सका।

"रंज मत करो, बदलू ! इस दुनिया में कोई हमेशा नहीं बना रहता। जो पैदा होता है, वह मरता है; जो मरता है, वह फिर जन्म लेता है। मौत से डरना या दुखी होना नहीं चाहिये। मुझे इस बात का ज़रा भी दुःख नहीं है कि मैं मरने जा रहा हूँ। दुःख मुझे सिर्फ़ इस बात का है कि सुखमा अभी छोटी है, और मैं अब उसकी देख रेख न कर सकूँगा। खैर, तुम हो और उसकी मौसी हैं। मुझे विश्वास है कि तुम दोनों अगर उसकी देख-रेख करते रहोगे, तो उसे कोई तकलीफ़ न होगी।"

बदलू चुपचाप आँसू बहाता खड़ा रहा।

"अच्छा, जाओ। सुखमा को भेज दो।"

बदलू चला गया दुःख के भार से दबा-दबा। लग रहा था उसे, जैसे वह संसार में बिलकुल निराधार हुआ जा रहा हो।

ज़रा देर के बाद सुखमा आयी। उसे अपने पास बैठाकर वकील साहब देर तक उसे प्यार करते रहे। सुखमा कुछ समझ

नहीं सकी; लेकिन जब वह कमरे से निकली, तो उसका चित्त भारी हो गया था और उसे एक अजीब बेचैनी महसूस हो रही थी।

तीसरे दिन वकील साहब का देहान्त हो गया। शोक उमड़ पड़ा उस छोटे से घर में। महीनों यह दुःखद दशा बनी रही। फिर शोक धीरे-धीरे घटने लगा, और जीवन-क्रम क्रमशः पूर्ववत् चलने लगा।

उस समय सुखमा केवल ग्यारह वर्ष की थी। वर्ष पर वर्ष बीतते गये। सुखमा सयानी हो गई। जीवन की रङ्गीनियाँ सामने आने लगीं।

जिन स्नेहमयी मौसी को उसके पिता उसे सौंप गये थे, उन्होंने उसकी देख-रेख करने में कभी कुछ उठा नहीं रखा। सागर से विशाल उनके हृदय की अगाध ममता एकमात्र उसी पर केन्द्रित थी। उसके अतिरिक्त उनके कोई और था भी नहीं। मायके में कोई सगा सम्बन्धी था नहीं। ससुराल वाले पूछते नहीं थे। विधवा होने के पश्चात् कुछ दिनों तक मायके में रहने के बाद, अपनी उदार हृदया छोटी बहिन के आग्रह से, वह यहाँ आ गई थीं, और तब से उन्होंने इस घर से ऐसा गहरा सम्बन्ध स्थापित कर लिया था कि इससे पृथक होने की बात सोच सकना भी उनके लिए असम्भव था। जब तक सुखमा घर पर रहती, तब तक वह उसके पीछे छाया की तरह लगी रहतीं, उससे हँसती-बोलतीं, उसके साथ खेलतीं, और रात में उसके समीप लेटकर प्राचीन काल की अद्भुत, लोमहर्षक, रोमांच-कारी कहानियाँ सुनातीं। हर समय उन्हें उसे सुखी रखने की चिन्ता रहती। सुखमा भी उन्हें दिल से चाहती थी।

कर्त्तव्य के पालन में बदलू भी पीछे नहीं रहा। अपने मरणासन्न

मालिक को उसने जो वचन दिया था, उसका उसने पूर्णतया निर्वाह किया। किसी दूसरी जगह नौकरी करने की उसने कभी बात भी नहीं सोची। अपने घर भी वह कभी नहीं गया। उसके घर वाले खुद आकर उससे मिल जाते। पूर्ण मनोयोग से वह उस घर की सेवा-टहल और रखवाली करता। किसी की मजाल न थी कि उसे कोई हानि पहुँचा सके। एक बार एक सफ़ेदपोश आवारे ने सुखमा से कुछ छेड़-छाड़ की। बदलू ने उस व्यक्ति की ऐसी ख़बर ली कि उसकी हिम्मत छूट गई और वह फिर कभी उस बस्ती में दिखाई नहीं पड़ा। बदलू सुखमा को अपनी बेटी की तरह प्यार करता था। सुखमा भी उसे दिल से मानती थी।

(२)

सुखमा की दुनिया धीरे-धीरे बदल रही थी। वह कालेज में पहुँच गई थी। नई-नई सहेलियाँ थीं, नया वातावरण था, आये दिन नई-नई बातें सामने आती थीं। दृष्टिकोण बदल रहा था। मन स्वप्नों के सुनहरे जाल बुनने लगा था। कोई बात अब पहले जैसी नहीं रहना चाहती थी, सारी चीज़ें नये रंगों में रँगती जा रही थीं। यौवन का सुरभित खाता खुल गया था।

और भी एक परिवर्त्तन हो गया था उसके अन्दर। अप्रत्याशित रूप से अकस्मात् वह उस सुन्दर, सुनहरे, कण्टकाकीर्ण पथ पर पहुँच गयी थी, जहाँ पहुँच जाने पर लौटना नहीं हो सकता। जग के विशाल सागर में डगमग डोलती हुई उसकी सुन्दर, स्वर्ण-तरी में एक यात्री आ बैठा था। अवांछनीय नहीं थी उस यात्री की उपस्थिति। वह हटना नहीं चाहता था, और वह भी उसे हटाना नहीं चाहती थी।

एक प्रिय सहेली के घर पहले-पहल उस स्वस्थ, स्वरूपवान, भावुक युवक से भेंट हुई थी। पहली ही भेंट में वे घुल मिल गये थे, जैसे चिरकाल का परिचय हो। मनोहर उसका नाम था। यूनिवर्सिटी में पढ़ता था। एम० ए० का विद्यार्थी था। होस्टल में रहता था। बड़ा तेज़ और दिलवाला था।

और भी एक युवक था, जो धीरे-धीरे उसके निकट आ गया था। उसकी उस सहेली तारा का वह भाई था। विपिन उसका नाम था, स्वस्थ था, असुन्दर नहीं था, दिल वाला भी था। एल्०-एल्० बी० में पढ़ता था। अपने निजी घर में रहता था। जब वह उसकी ओर देखता, तो सुखमा को लगता कि उसकी आतुर दृष्टि उसके अन्दर घुस कर कुछ खोज रही है। उस समय सुखमा को उसके ऊपर बड़ी दया आती। उसे वह ना-पसंद नहीं करती थी, लेकिन उसको देने लायक कोई चीज़ उसे अपने अन्दर नहीं मिलती थी।

मनोरंजन के जो साधन घर पर उपलब्ध थे, वे अब उसके लिए काफ़ी नहीं थे। मित्रों और सहेलियों से मिले बिना और सिनेमा देखे बिना अब गुज़ारा नहीं था। इनके द्वारा मन बहलाव की काफ़ी सामग्री प्राप्त हो जाती थी, और साथ ही व्यक्तित्व के विकास में भी सहायता मिलती थी।

मनोहर अकसर उसके घर आता था। तारा और विपिन भी आते थे। उनसे वह खुल कर हँसती-बोलती थी, वाद-विवाद करती थी, और उन्हीं के साथ वह सिनेमा देखने जाती थी। वे चरित्रवान थे, सभ्य थे, सुशील थे। मौसी को कोई आपत्ति नहीं थी। बदलू को भी कोई आपत्ति नहीं थी। वे आदमी पहिचानते थे।

और मनोहर ने एक दिन सुखमा से कह डाला था अपने मन का भेद। और सुखमा को भी स्वीकार करना पड़ा था कि उसके

मन में भी उसके प्रति कुछ वैसे ही भाव विद्यामान हैं। और दोनों देखने लगे थे भविष्य के सुन्दर सपने, एक दूसरे को लेकर।

आज कालेज से लौटते ही सुखमा शृङ्गार करने में लग गई है। साड़ी और जम्पर का चुनाव हो चुका है। एक बढ़िया सैंडल भी निकाल कर रख लिया गया। सामने मेज़ पर खुशबूदार तेल की बोतल, पाऊडर का डिब्बा और क्रीम और ब्रिलियनटाइन की शीशियाँ सजी रखी हैं। सवेरे कालेज जाने से पहले बालों में कंघी की गई थी। लेकिन बाल इस समय फिर खोल डाले गए हैं, और उनमें फिर सावधानी से कंघी की जा रही है। शृङ्गार की मेज़ के सामने एक कुरसी पर बैठी हुई वह उत्साहपूर्वक चमकीले, सुकोमल बालों में कंघी चला रही है और गुनगुना रही है एक लोकप्रिय गीत की एक पंक्ति। शरीर में स्वाभाविक स्फूर्ति लहरें मार रही है, मन में उमंगें हिलोरें ले रही हैं, आत्मा मस्ती से झूम रही है। कहीं किसी ओर कोई खटका नहीं है।

हलुए की तश्तरी और जल से भरा गिलास लिए मौसी कमरे में आई।

"लो बिटिया, नाश्ता कर लो।"

"रख दो मेज़ पर। अभी खा लूँगी।"

तब मौसी ने तश्तरी और गिलास मेज़ पर रख दिया।

"कहाँ की तैयारी है, बिटिया?"

"सिनेमा देखने की। एक नया फ़िल्म आया है। तुम भी चलोगी, मौसी?"

"मैं क्या करूँगी चल कर। कोई ऐसा-वैसा ही खेल होगा। धार्मिक खेल होता तो चलती भी।"

"धार्मिक खेल तो नहीं है, लेकिन है बड़ा अच्छा।"

"किसके साथ जाओगी ?"

"मनोहर के साथ। अभी आते होंगे। कल वायदा करा गये थे।"

"ठीक है। अच्छा, लाओ मैं करूँ कंघी। तुम खाओ।"

"नहीं, रहने दो, मौसी! खाने की अभी कोई जल्दी नहीं है।"

"जल्दी क्यों नहीं है? पेट काँव-काँव कर रहा होगा। सवेरे की खाई हो?"

"कालेज में जो नाश्ता किया था, उसकी कोई गिनती नहीं है?"

"कालेज में तुम ने एक बजे नाश्ता किया होगा। इस वक्त चार बज चुके हैं। क्या अभी तक वह धरा होगा?"

"अच्छा साहब, लीजिए कंघी। हटाइये झगड़ा!"

मौसी हँस पड़ीं। वह भी हँसने लगी। फिर मौसी उसके बालों में चलाने लगीं कंघी, और वह हलुआ खाने लगी।

"लो, तुम भी खाओ, मौसी।"

"नहीं, तुम खाओ, बिटिया! मुझे भूख नहीं है।"

"मुझे भूख है, और तुम्हें नहीं है!"

"तुम लड़की हो; मैं बूढ़ी हूँ।"

"बुढ़ियों के क्या पेट नहीं होता?"

"होता क्यों नहीं, भाई। लेकिन लड़कियों का पेट खाना जल्दी पचा लेता है।"

"अच्छा, तुमने कब खाना खाया था?"

"बारह बजे।"

बारह बजे का खाना अभी तक धरा है तुम्हारे पेट में! खुल गई तुम्हारी क़लई! अब मैं नहीं मानूँगी। खाना पड़ेगा तुम्हें भी।" वह उठने लगी, मौसी को बलपूर्वक खिलाने के लिए।

"अच्छा, मैं खा लूँगी अभी जाकर। अभी काफ़ी हलुआ रसोई-घर में पड़ा है। विश्वास करो, बिटिया! मान जाओ।"

"अच्छा, अभी देखूँगी चलकर। तुम न जाने क्या खाती-पीती हो। निगरानी रखने की ज़रूरत है।"

"हाँ, देख लेना अभी।"

सुखमा फिर खाने लगी चुपचाप। मौसी कंघी चलाने लगीं। उन्हें बड़ी प्यारी लगी उसकी वह ज़िद। उसमें अपनेपन और अधिकार की जो मधुर भावना थी, उसने छू लिया उनकी हृत्तंत्रियों को। उन्हें और चाहिए ही क्या?

एकाएक रुक गया मौसी का हाथ, कंघी केशों में उलझी रह गई। मौसी देखती रह गईं शृङ्गार की मेज़ पर लगे हुए दर्पण में पड़ते हुए सुखमा के सुन्दर चेहरे के अक्स को। मेघ-मण्डित चन्द्रमा-सा लग रहा था काले बालों से घिरा हुआ उसका चेहरा। अपार सन्तोष, अपरिमित हर्ष उमड़ने लगा उनके हृदय में। माली जिस पौधे की यत्नपूर्वक सेवा करता है, उसे सुविकसित देख कर वह प्रसन्न और सन्तुष्ट होता ही है।

"क्या देख रही हो, मौसी?"

"मैं देख रही हूँ कि मेरी रानी बिटिया सयानी हो गई है और—अब उसे एक जीवन-सङ्गी की ज़रूरत है।"

सुखमा ने लजाकर सिर झुका लिया। मौसी मुस्कराती रहीं। सुखमा बेचारी कैसे कहे उनसे कि अपना जीवन-सङ्गी उसने चुन लिया है, और इस विषय में उन्हें चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं है।

पाँच बज चुके हैं। सजी-धजी बैठी है सुखमा। लेकिन मनोहर का अभी तक पता नहीं है। पाँच बजे आने को कह गया था। अभी तक क्यों नहीं आया ? पहले तो ऐसा कभी नहीं हुआ। हमेशा ठीक वक्त पर वह आ जाया करता था।

छः बज गये। फिर भी वह नहीं आया। निराशा से खीझ उठी सुखमा। यह भी कोई बात है—वायदा करना-कराना और न आना! ऐसे ढंग उसे अच्छे नहीं लगते। कुछ विशेष उत्सुक नहीं थी वह आज सिनेमा देखने को। उत्सुक होती भी, तो किसी और के साथ जा सकती थी। वह मरी नहीं जा रही थी उसके साथ जाने को।

"अब वह नहीं आयँगे, बिटिया," बाहर से आकर मौसी ने कहा। "शायद किसी काम में फँस गये। कपड़े बदल डालो।"

काम में फँस गये! काम था तो यहाँ आकर प्रस्ताव और; आग्रह करने की क्या ज़रूरत थी ? अब वह कभी उनके साथ सिनेमा देखने नहीं जायगी। ज़रा देर तक वह मन ही मन खीझती बैठी रही। फिर उठकर, शृंङ्गार-गृह में जाकर उसने कपड़े बदल डाले।

रात में जब वह भोजन करने बैठी, तो पढ़ने में मन नहीं लगा। नींद भी उसे अच्छी तरह नहीं आयी। तरह-तरह से मौसी ने उसे शान्त करने का प्रयत्न किया, लेकिन कोई नतीजा नहीं हुआ।

दूसरे दिन जब वह सोकर उठी, तो उसका शरीर भारी था और मन भी उचटा-उचटा-सा हो रहा था। दिन भर वह अनमनी बनी रही। कालेज के शान्त वातावरण और सहेलियों की रस-भरी चुहलों से भी उसका चित्त शान्त नहीं हो सका।

चार बजे के क़रीब जब वह क़ालेज से लौटी, तो थोड़ी देर के बाद मनोहर भी आ पहुँचा।

"वाह, मनोहर, वाह !" मौसी ने कहा। "कल तो खूब आये।"

"कुछ पूछिये न, मौसी ! अजीब चक्कर में फँस गया था। सुखमा कहाँ है ?"

"बैठो, देखती हूँ।"

मनोहर एक कुरसी पर बैठ गया। मौसी अन्दर चली गयीं। ज़रा देर के बाद लौट कर उन्होंने कहा—जाओ, बेटा ! सुखमा पुस्तकालय में है।

उठकर, अन्दर जाकर, मनोहर ने प्रवेश किया पुस्तकालय में। एक मोटी-सी पुस्तक खोले सुखमा बैठी थी मेज़ के सामने।

"सुखमा !"

सिर उठाकर शिकायत-भरी दृष्टि से सुखमा ने उसकी ओर देखा।

"मुझे इस बात का बड़ा अफ़सोस है कि मैं कल आ नहीं सका ! बात यह हुई कि चार बजे कई मित्र आ गये। वे मुझे एक पार्टी में पकड़ ले गए। पार्टी सात बजे ख़त्म हुई। तब छुट्टी मिली।"

सुखमा निस्तब्ध रही।

"तुमने बुरा तो नहीं माना ?"

"बुरा मैं क्यों मानने लगी ?"

"विश्वास करो, सुखमा, मैंने बड़ी कोशिश की; लेकिन उन लोगों से किसी तरह पिण्ड नहीं छुड़ा सका।"

"इतनी सफ़ाई देने की क्या ज़रूरत थी ? मैंने तो सफ़ाई माँगी नहीं।"

मनोहर उठकर उसके पास गया। सुखमा पुस्तक के पृष्ठों पर दृष्टि दौड़ाने लगी। मनोहर खड़ा का खड़ा रह गया। क्या है यह—मान या कोरी अवहेलना ?

"कहीं चलोगी इस वक्त ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"फ़ुर्सत नहीं है, मुझे पढ़ना है।"

मनोहर खड़ा रहा निस्तब्ध, मूर्तिवत्। आज क्या हो गया है इसे ? ऐसा व्यवहार तो इसने पहले कभी नहीं किया। कहाँ गयी आज इसकी मनोमुग्धकारी मुस्कान, इसकी हँसी, इसकी वाक्-पटुता ? क्या है यह—मान या निरी अवहेलना ?

"अच्छा पढ़ो, मैं जाता हूँ।"

और एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर वह चला गया।

सुखमा ने बन्द कर दी पुस्तक। 'अच्छा पढ़ो। जाता हूँ मैं !' जाते नहीं हज़रत ! कौन बुलाने गया था उन्हें। न आते तो क्या बिगड़ जाता उसका ? उन्हें मुबारक रहें उनके दोस्त ! उनकी संगति के बिना भी उसका काम चल जायगा मज़े में।

अगले दिन मनोहर फिर आया उसी समय। सुखमा ड्राइङ्ग-रूम के सोफ़े पर बैठी थी। मनोहर मुस्कराता हुआ अन्दर आया।

"सुखमा," विनयपूर्ण स्वर में उसने कहा, "चलो, आज सिनेमा देख आवें। बड़ा अच्छा फ़िल्म है। लोग बड़ी तारीफ़ कर रहे हैं।"

"मैं नहीं जा सकती आज।"

"क्यों ?"

"तबीयत ठीक नहीं है।"

"क्या हुआ है तुम्हें ?"

"सिर में दर्द है।"

"मैं अभी लाता हूँ दवा। दस मिनिट में दर्द ग़ायब हो जायगा।" और वह आगे बढ़ा दरवाज़े की ओर।

"नहीं, रहने दो। दवा की ज़रूरत नहीं। मैं नहीं खाऊँगी दवा।"

खड़ा का खड़ा रह गया मनोहर। तो अभी तक चल रहा है वह भाव ! क्या हो गया है इसे ? मान है, या निरी अवहेलना ? पता लगाना होगा। धीरे-धीरे उसके सामने जाकर वह खड़ा हो गया।

"सुखमा !"

दृष्टि उठाकर सुखमा ने उसकी ओर देखा।

"कल से तुम में एक विचित्र परिवर्त्तन देख रहा हूँ।"

"कैसा परिवर्त्तन ?"

"शायद—तुम मुझ से नाखुश हो।"

"नाखुश मैं क्यों होने लगी ? कोई बात भी तो हो ?"

"कोई बात हो या न हो, लेकिन मेरा ख्याल है कि तुम मुझसे नाख़ुश हो !"

सुखमा निस्तब्ध रही।

"भूलें करना मनुष्य के स्वभाव में दाख़िल है। भूलें जान कर भी हो जाती हैं, अनजाने में भी हो जाती हैं। मुझे पता नहीं कि मुझसे कोई भूल हुई है। अगर अनजाने में मुझसे कोई भूल हुई हो तो मुझे माफ़ करो।"

सुखमा उसी तरह ख़ामोश बैठी रही।

"आज यूनिवर्सिटी में एक बड़े मज़े की बात हुई। डाक्टर

रैना खड़े-खड़े लेक्चर दे रहे थे। बड़े गम्भीर स्वभाव के हैं वह। हँसी-मज़ाक़ उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं। उनका टोप मेज़ पर रखा हुआ था। न जाने कैसे एक मेंढक उसके नीचे पहुँच गया। लेक्चर दे चुकने के बाद जब उन्होंने अपना टोप उठाया, तो मेंढक ज़ोर से उछल कर उनके ऊपर कूद पड़ा। डाक्टर रैना चौंक कर पीछे हटे और गिरते-गिरते बचे। टोप उनके हाथ से छूट कर एक ओर जा गिरा। तमाम लड़के ठठा कर हँस पड़े।"

फिर भी सुखमा गाम्भीर्य धारण किये बैठी रही।

हँसी ग़ायब हो गई मनोहर के ओठों से। दो क्षण वह चुप-चाप खड़ा रहा, फिर मुड़कर धीरे-धीरे कमरे से बाहर हो गया।

चले गये हज़रत! जाने दो। उनकी संगति के बिना भी उसका काम चल जायगा मज़े में। आये और लेक्चर-सा झाड़ दिया! यह भी कोई ढङ्ग है किसी को मनाने का?

साढ़े पाँच बजे के क़रीब तारा और विपिन आये।

"क्या कर रही हो, सुखमा?" कमरे में घुसते ही तारा ने कहा।

"कुछ नहीं।"

"तो चलो सिनेमा देख आयें। शोभा-महल में एक बड़ा अच्छा फ़िल्म चल रहा है। बड़ी तारीफ़ हो रही है उसकी।"

"मैं तो नहीं चल सकूँगी, तारा!"

"क्यों?"

"तबीयत ठीक नहीं है।"

"क्या हुआ है तुम्हें?"

"शरीर भारी है; जी घबरा रहा है।"

"तो घर में पड़ी-पड़ी सड़ने से क्या तबीयत ठीक हो जायगी?

चलो, उठो; तैयार हो जाओ।"

"नहीं...तारा, आज मुझे माफ़ करो।"

"नहीं, सुखमा, तुम्हें चलना पड़ेगा। मैं नहीं मानूँगी।"

"चलो-चलो, सुखमा," विपिन ने कहा। "बड़ा अच्छा फिल्म है। दवा का काम करेगा।"

बार-बार आग्रह करते रहे दोनों। विवश होकर सुखमा को तैयार होना ही पड़ा। एक ताँगे पर सवार हो कर वे शोभा-महल की ओर रवाना हो गये!

हाल दर्शकों से खचाखच भरा था। अव्वल दर्जे में बैठे थे वे तीनों। खेल शुरू होने में अभी कुछ देर थी।

"उधर देखो, सुखमा," एक ओर इशारा करते हुए तारा ने कहा।

सुखमा ने देखा उस ओर। उधर की एक सीट पर मनोहर बैठा हुआ था। धक से रह गया उसका कलेजा। लगा जैसे कोई भारी अपराध उससे बन पड़ा हो। फ़िज़ूल आई वह सिनेमा देखने। मनोहर क्या सोचेगा अपने मन में?

"अच्छा, मनोहर भाई हैं!" विपिन ने कहा। "उन्हें भी यहीं बुला लूँ।" वह उठने लगा।

"क्यों सुखमा," तारा ने कहा, "बुला लिया जाय मनोहर भाई को?"

"नहीं, रहने दो। चाहेंगे तो खुद आ जायगे।"

बिपिन फिर बैठ गया। दो क्षण के बाद जब सुखमा ने उस ओर कनखियों से देखा, तो मनोहर दिखाई नहीं दिया। कई बार उसने देखा, लेकिन मनोहर फिर दिखाई नहीं दिया।

विश्राम में भी वह दिखाई नहीं दिया। खेल समाप्त होने के बाद

भी वह दिखाई नहीं दिया। फ़िल्म वास्तव में बड़ा सुन्दर था; लेकिन सुखमा उसका रस ले सकने में असमर्थ रही। इतनी बेचैन थी वह।

दिन पर दिन बीतते गये। एक सप्ताह निकल गया; एक पखवारा भी निकल गया। लेकिन मनोहर की सूरत नहीं दिखाई दी। अत्यधिक चिन्तित हो उठी सुखमा। वह किसी से नहीं कह सकी अपने मन की व्यथा। लेकिन उसके चेहरे की उदासी कह रही थी स्पष्ट रूप से, अपनी करुण कथा।

चिन्तित होकर एक दिन मौसी ने बदलू से कहा—मनोहर बाबू आजकल दिखाई नहीं देते, बदलू! ज़रा उनके होस्टल जाकर देखो कि क्या बात है। अगर मोजूद हों, तो अपने साथ लिवा लाना।

बदलू तुरन्त रवाना हो गया। एक घण्टे के बाद लौटकर उसने बतलाया—मनोहर बाबू होस्टल में नहीं हैं। अपना असबाब लेकर वह कहीं चले गये। कहाँ गये, यह किसी को मालूम नहीं है।

एक महीना बीत गया। फिर भी मनोहर की कोई खबर नहीं मिली। सुखमा के चेहरे की उदासी गहरी हो गई। किसी काम में जी न लगता, कुछ अच्छा न लगता। मन ही मन चिन्ता करती, पछताती और एकान्त में चुपचाप आँसू बहाती।

एक दिन संध्या के समय विपिन ने आकर कहा—मनोहर भाई न जाने कहाँ चले गये। होस्टल में नहीं हैं। यूनिवर्सिटी में भी नहीं आते।

"शायद अपने घर गये हों।"

"घर गये होते तो यूनिवर्सिटी में अर्ज़ी तो आती ?"

सुखमा की आँखें डबडबा आईं। उठकर वह कमरे से बाहर चली गई। एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर विपिन कमरे में टहलने लगा।

ज़रा देर के बाद जब वह वापस आयी, तो उसके चेहरे की ओर देख कर विपिन तड़प उठा अन्दर ही अन्दर। पूर्णतः विवर्ण हो गया था सुखमा का मुख-मण्डल।

"घूमने चलोगी ?"

"नहीं, तबीयत ठीक नहीं है।"

थोड़ी देर तक वह बैठा रहा निस्तब्ध, मूर्तिवत्। फिर उठ कर चला गया धीरे-धीरे।

... ...

दो मास बाद की बात है। छुट्टी का दिन था। तीन बजे का समय था। मौसी एक पड़ोसी के घर गयी थीं। सुखमा ड्राइङ्ग-रूम में एक पुस्तक लिए कोच पर लेटी हुई थी। मन उलझा था टूटे सपनों के तारों में।

बदलू अन्दर आया।

"यह चिट्ठी आई है, बिटिया रानी!" पास आकर उसने कहा।

और चिट्ठी सुखमा के हाथ में देकर वह चला गया। शीघ्रता-पूर्वक लिफ़ाफ़ा फाड़ कर वह पत्र पढ़ने लगी। लिखा था उसमें—

'सुखमा,

तुम्हारी राह का काँटा मैं नहीं बनना चाहता। ऐसा करना तुम्हारे प्रति भारी अन्याय करना होगा। साथ ही अपने प्रति भी विश्वासघात करना होगा। अन्यायी और विश्वासघाती बनने की

बात मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता। जो वचन तुमने मुझे दिया था, उससे अब अपने को पूर्णतः मुक्त समझो। जो आशंका मुझे थी वह सत्य सिद्ध हुई। तुम्हें मैं दोषी नहीं ठहराना चाहता। हृदय ही तो है। अटल भी रह सकता है, हट भी सकता है।

हवाई सेना में भर्ती हो गया हूँ। वायुयान-चालक की ट्रेनिङ्ग-मिल रही है। चार महीने के बाद सार्टीफ़िकेट मिल जायगा। इच्छा तो बहुत दिनों से थी, लेकिन तुम्हारा ख़्याल रोक रहा था। अब तुम भी स्वतन्त्र हो, मैं भी स्वतन्त्र हूँ। मुक्त पक्षी की भाँति अब आकाश में उड़ता फिरूँगा, और समय आने पर रण-क्षेत्र में अपने कर्त्तव्य का पालन करूँगा। तस्कीन का यह रास्ता ही बहुत है मेरे लिए।

ईश्वर करे, तुम सदैव सुखी रहो!

—मनोहर।'

वज्राघात हुआ सुखमा के ऊपर। ऐसा भारी अन्याय; ऐसी भयानक विडम्बना! न्याय का दम भरने वाला ऐसा अन्यायी भी हो सकता है! बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी नासमझी भी कर सकता है। भावुकता का पुतला ऐसी हृदय-हीनता भी प्रदर्शित कर सकता है। कौन-सा अपराध था उसका? मान कौन स्त्री नहीं करती? अपराध ही सही। लेकिन क्या उसके लिए ऐसा भयानक दण्ड मिलना चाहिये?

टूट गये वीणा के तार। मिट गये जीवन के मधुर सपने। बिखर गईं कामनाओं की लड़ियाँ। जल गईं आशाओं की चिता। अन्धकार घिर आया भीतर-बाहर। कौन होता है इस जग में किसी का? क्यों होता वह उसका? ईर्ष्या! हत्यारिणी ईर्ष्या!

मौसी कमरे में आयीं, तो सहम गईं—उसके चेहरे की ओर देख कर।

"क्या बात है, बिटिया ?"

सुखमा बैठी रही निस्तब्ध, मूर्त्तिवत्।

"जी कैसा है बिटिया रानी ?"

हृदय में एक प्रबल हूक उठी। बाँध टूट गया आँसुओं का, सुखमा रोने लगी फफक-फफक कर। उसे हृदय से लगाकर, मौसी उसके सिर और पीठ पर हाथ फेरने लगीं। आँसू ढुलकने लगे उनकी आँखों से भी। शायद आज इसे बाप की याद आ गई। बेचारी सुखमा—अभागी सुखमा !

"न रो, मुन्नी ! न रो, रानी !"

बाद में बदलू ने मौसी से कहा—आज एक चिट्ठी आयी थी मौसी जी !

"चिट्ठी ! कहाँ से आयी थी चिट्ठी ?"

"यह मैं क्या जानूँ। डाकिया फेंक कर चला गया। मैं उठाकर बिटिया रानी को दे आया।"

तब सुखमा के पास जाकर मौसी ने पूछा—किसकी चिट्ठी आई थी, बिटिया ?

"मनोहर की।"

"अच्छा, मनोहर की चिट्ठी थी ! क्या लिखा है उसमें ?"

"फ़ौज में भर्ती हो गये हैं।"

"फ़ौज में ! यह क्या सूझी उसे ?"

सुखमा ने कुछ नहीं कहा। परदा हट गया मौसी के सामने से। तो यह मामला था !

विपिन के पास भी मनोहर का एक पत्र आया था दूसरे

दिन सवेरे आकर उसने भी मौसी और सुखमा को उस पत्र की बातें बतलाईं।

किसी तरह बीत रहे थे सुखमा के दिन। सब कुछ वह पहले ही की तरह कर रही थी; लेकिन कर रही थी सब-कुछ जड़ मशीन की तरह। जो गहन विषाद उसके हृदय में जमा बैठा था, वह हटाये न हटता; विकल विचार मन में चलते रहते, दिल तड़पता रहता।

(३)

अन्त में सुखमा ने एक महान् निश्चय कर डाला; मौसी के पास जाकर उसने उत्साह-पूर्वक कहा—मौसी, मैं नर्स बनने जा रही हूँ।

मौसी आश्चर्य से चकित रह गईं।

"नर्स ! कैसी नर्स ?"

फ़ौजी अस्पतालों में नर्सों की ज़रूरत है। मैं भी अर्ज़ी भेजूँगी।"

"यह तुम्हें क्या सूझी है, बिटिया ! तुम क्यों बनोगी नर्स ? बड़े बाप की बेटी हो। ढेर-सा धन छोड़ गये हैं। तुम्हें किस चीज़ की कमी है कि नौकरी करोगी ?"

"पैसा कमाने के ख़याल से नहीं, बल्कि सेवा-भाव के विचार से मैं यह काम करने जा रही हूँ। घायलों की सेवा से बढ़ कर कोई सेवा नहीं हो सकती।"

"लेकिन इस काम में बड़ा ख़तरा है। नहीं, बिटिया; छोड़ दो यह विचार। सेवा करनी ही है, तो सेवा का कोई और काम करो।"

"नहीं, मौसी, तुम्हारा भय निर्मूल है। इस काम में कोई विशेष

ख़तरा नहीं है। भूल-चूक की बात और है, लेकिन अस्पतालों पर बम-वर्षा नहीं की जाती। फिर यों तो आजकल हर जगह ख़तरा है।"

मौसी तरह-तरह से देर तक समझाती-बुझाती रहीं। सखी तारा ने भी आकर लम्बी बहस छेड़ी। लेकिन कोई नतीजा नहीं हुआ। सुखमा अपने निश्चय पर अटल रही।

प्रार्थना-पत्र भेज दिया। एक सप्ताह के बाद स्वीकृति आ गई। सुखमा रवाना हो गई ट्रेनिंग के लिए, सब लोगों से विदा लेकर। मौसी ने उसके साथ जाना चाहा, लेकिन सुखमा राज़ी नहीं हुई।

... ...

नौ मास व्यतीत हो चुके हैं। ट्रेनिङ्ग पाकर सुखमा कलकत्ते के विशाल फ़ौजी अस्पताल में काम कर रही है। उसके अफ़सरान उसकी कार्यपटुता की सराहना करते हैं। सहयोगिनी नर्सें उसे दिल से मानती हैं। रोगी हर समय उसे अपने पास देखना चाहते हैं। बड़ी सावधानी से, बड़े प्रेम से, बड़े उत्साह से वह काम करती है। ज़रा-सी भूल भी हो जाती है, तो घण्टों पछताती है। उसकी स्वाभाविक छवि, सुन्दरता, विनोदशीलता लौट रही है धीरे-धीरे। दर्द दिल में उठता है रह-रह कर; लेकिन वह उसे थपकियाँ दे-देकर सुला देती है। वह अमूल्य निधि है उसकी।

एक विशाल विध्वंसक बहुत से घायलों को लेकर अभी डायमण्ड हार्बर में आया है। एम्बुलेंस-कारें दौड़ रही हैं। बन्दरगाह से अस्पताल तक, अस्पताल से बन्दरगाह तक। बड़ी सरगर्मी से नवागन्तुकों को आराम पहुँचाने की यथोचित व्यवस्था की जा रही है।

रात के नौ बज चुके हैं। ड्यूटी करने के लिए सुखमा अभी अस्पताल में हाज़िर हुई है। अस्पताल के विशाल हाल में दोनों ओर लम्बी पंक्तियाँ लगी हुई हैं। स्वच्छ, आरामदेह बिस्तरों पर रण-क्षेत्रों से लौटे हुए घायल सैनिक पड़े हुए हैं। नर्सें यत्नपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रही हैं। सुखमा भी कार्य में संलग्न है।

नम्बर पन्द्रह वाले बिस्तर के समीप पहुँच कर सुखमा स्तब्ध रह गई। मनोहर पड़ा था उस बिस्तर पर। उसके सिर पर, सीने पर, पैरों पर पट्टियाँ बँधी हुई थीं। वह आँखें बन्द किये पड़ा था, और रह-रहकर कुछ बड़बड़ाने लगता था—मन्द स्वर में।

गहरा आघात लगा सुखमा के हृदय पर। शरीर काँप उठा और संज्ञाशून्य-सा होने लगा। प्रबल इच्छा-शक्ति लगा कर उसने अपने को सँभाला। भावुकता या दुर्बलता प्रदर्शित करने का समय नहीं था।

टेम्परेचर लेना था। आगे बढ़कर, झुककर, उसने मनोहर की दाहनी काँख में थर्मामीटर लगा दिया। बड़बड़ाने लगा मनोहर आँखें बन्द किये-किये—बस, आ गया दुश्मन का कैम्प। चन्द सैकेंड से ज़्यादा नहीं लगेंगे। होशियार हो जाओ, दाऊद! बस पहुँच गये। दुश्मन का कोई हवाई जहाज़ किसी ओर दिखाई नहीं देता। सौभाग्य की बात है। रेडी!" फिर उसका शरीर सिहरा, और वह चुप हो गया।

एक मिनट बीत गया। सुखमा ने थर्मामीटर निकाल कर देखा। १०४.८! बड़ा तेज़ बुख़ार है। मर्फ़िया के इंजेक्शन का असर है, नहीं तो इन्हें इस वक्त एक क्षण के लिए भी चैन न मिलता। तो इस तरह भेंट होने को थी? वाह री क़िस्मत! थर्मा-मीटर हाथ में लिए हुए वह चली गई आन्दोलित-सी, खोई हुई सी।

"सिस्टर !" नम्बर ५२ वाले बिस्तर से आवाज़ आयी।

"कहिये ?" रुककर सुखमा ने कहा।

"और नज़दीक जाओ मेहरबानी करके।"

आगे बढ़ कर सुखमा उस बिस्तर की बगल में खड़ी हो गई।

"क्या बात है ?" कोमल स्वर में उसने प्रश्न किया। किसी चीज़ की ज़रूरत है ?"

"नहीं, मुझे एक बात पूछनी है।"

"पूछिये, लेकिन कोई बेमतलब मत पूछिये। ज्यादा बात करना मना है। मरीज़ों को बात करने के बजाय आराम से सोने की कोशिश करनी चाहिये।"

"बेमतलब नहीं, बहुत ज़रूरी बात पूछनी है। पायलट मनोहर लाल की हालत कैसी है ? बात यह है कि मैं उनके जहाज़ पर 'रेडियो-आपरेटर' था। हम दुश्मन के अड्डे पर बम-वर्षा कर रहे थे। एकाएक वायुयान-विध्वंसिनी तोप का एक गोला हमारे विमान पर आ लगा। विमान को काफ़ी क्षति पहुँची। हम तुरन्त अपने अड्डे की ओर लौट पड़े। अड्डा काफ़ी दूर था, हमारे दो इञ्जन बेकार हो गये थे, और केवल एक इञ्जन किसी तरह काम कर रहा था। अपने अड्डे तक पहुँच सकना असम्भव समझ कर हम एक खेत में उतरने की कोशिश करने लगे। लेकिन ज़मीन पर पहुँचने के पहले ही विमान बेक़ाबू हो गया। एक पेड़ से टकरा कर वह ज़मीन पर गिरा और क्षत-विक्षत हो गया। संयोगवश मुझे तो केवल हलकी चोटें लगीं; लेकिन मनोहरलाल को बड़ी गहरी चोटें लगीं।"

"उनकी हालत नाज़ुक है।"

"बड़े अफ़सोस की बात है। काश, उनके बजाय मुझे गहरी चोटें लगतीं! सेना को मेरी सेवाओं की अपेक्षा उनकी सेवाओं ज्यादा ज़रूरत है। ऐसा दिली दोस्त मुश्किल से कहीं मिलेगा।"

"डाक्टर निराश नहीं हुए हैं। उन्हें उनके अच्छे हो जाने की काफ़ी आशा है। अच्छा, अब आप सोने की कोशिश कीजिये।"

वह सुनना चाहती थी बहुत कुछ, पूछना चाहती थी बहुत कुछ, लेकिन ऐसा करना उचित नहीं था। हटकर वह आगे बढ़ गई।

रात भर मनोहर ने आँखें नहीं खोलीं। तापमान वैसा ही तेज बना रहा।

दूसरे दिन सुखमा की ड्यूटी दो बजे दिन से थी। मनोहर उस समय होश में था। ज्वर कुछ कम हो गया था।

गिलास में दवा लेकर सुखमा उसके पास पहुँची। वह आँखें फाड़े उसकी तरफ देखता रह गया।

"तुम!"

"हाँ, मैं ही। मुँह खोलो। दवा पी लो!"

मुँह खोलकर मनोहर ने दवा पी ली। सुखमा जाने लगी।

"ज़रा रुको सुखमा! एक बात बतलाती जाओ ..."

रुक गई सुखमा।

"तुम नर्स क्यों बन गई?"

"और तुम 'पायलट' क्यों बन गये?"

"तुम्हारे कारण।"

"बस, यही है मेरा भी उत्तर।"

एक दीर्घ निःश्वास खींच कर मनोहर ने आँखे बन्द कर लीं। सुखमा चली गई धीरे-धीरे।

मनोहर की हालत सुधर नहीं सकी। चौथे दिन उसकी दशा

अत्यधिक चिन्ताजनक हो उठी।

अर्द्ध-रात्रि बीत चुकी थी। सुखमा ड्यूटी पर थी। अत्यधिक विकल थी वह। रह-रहकर वह मनोहर के बिस्तर के पास आ जाती थी।

कराह कर मनोहर ने आँखें खोलीं। तुरन्त उसके पास पहुँच कर सुखमा ने चिन्ता के स्वर में पूछा—कैसी तबीयत है?

"सुखमा! तुम सुखमा ही हो न?"

"हाँ, मैं सुखमा ही हूँ?"

मनोहर ने उसका हाथ अपने हाथों में ले लिया।

"वह मेरी भूल थी, सुखमा! मुझे माफ़ करो! बस... बस..."

सुखमा का हाथ छूट गया मनोहर के हाथों से। ऐंठने लगा मनोहर का शरीर।

घबराकर सुखमा डाक्टर के पास दौड़ी गई।

दो मिनट के बाद डाक्टर के साथ इंजेक्शन की पिचकारी लिये हुए वह वापस आयी। निश्चल, निस्तब्ध पड़ा था मनोहर। 'स्टेथस्कोप' की खूँटियाँ कानों में लगा कर डाक्टर महोदय परीक्षा करने लगे।

"मर गया बेचारा!" खूँटियाँ कानों से निकालते हुए डाक्टर ने खेद सूचक स्वर में कहा। "स्ट्रेचर मँगवाओ, मिस सिनहा!"

लेकिन सुखमा डाक्टर साहब का वह आदेश पूरा नहीं कर सकी। धमाके का शब्द करती हुई वह फ़र्श पर गिरी और बेहोश हो गई। आश्चर्य से चकित होकर, आँख फाड़कर डाक्टर महोदय उसकी ओर देखने लगे।

... ...

"कोई है ?"

तुरन्त बाहर निकल कर बदलू ने देखा, तार-घर का एक चपरासी बाइसिकिल लिये 'पोर्टिको' में खड़ा था।

"क्या है, भाई ?"

"कोई कुन्ती देवी यहाँ रहती हैं ?"

"हाँ, रहती तो हैं।"

"उनके नाम एक तार है।"

मौसी भी बाहर निकल आईं। तार लेकर उन्होंने हस्ताक्षर कर दिया फ़ार्म पर। फिर जल्दी से लिफ़ाफ़ा फाड़ कर वह तार पढ़ने की कोशिश करने लगीं। लेकिन एक शब्द भी वह नहीं पढ़ सकीं। वह काफ़ी अँगरेज़ी नहीं जानती थीं।

"यह मुझसे नहीं पढ़ा जायगा, भाई ! जाकर विपिन को बुला लाओ। उन्हें अपने साथ लिवा लाना, और जल्द से जल्द आना।"

बदलू तुरन्त रवाना हो गया। आध घंटे के बाद विपिन के साथ वह वापस आया।

"देखो तो भैया, यह किसका तार है। क्या लिखा है इसमें ?

विपिन तेज़ी से तार पर दृष्टि दौड़ाने लगा। अत्यधिक गम्भीर हो उठा उसका चेहरा।

सुखमा सख्त बीमार है। ज़नाने अस्पताल में पहुँचा दी गई है। तुरन्त आइये।—ज़ोहरा।"

—विपिन ने पढ़ कर सुनाया।

मौसी का चेहरा फ़क़ हो गया। आँसू ढुलकने लगे उनकी आँखों से।

ज़रा देर तक निस्तब्धता रही। फिर अपनी कलाई-घड़ी पर दृष्टि डाल कर विपिन ने कहा—इस वक़्त सवा सात बजे हैं। साढ़े आठ बजे कलकत्ता गाड़ी जाती है। मैं अपना असबाब और ताँगा लेकर अभी आता हूँ। आप भी फ़ौरन तैयार हो जाइये।

उठकर वह तेज़ी से चला गया। बीस मिनट के बाद वह वापस आया। वे तुरन्त स्टेशन की ओर रवाना हो गए। दूसरे दिन प्रातःकाल वे कलकत्ता पहुँच गए।

ज़नाने अस्पताल का एक प्राइवेट वार्ड है। सुखमा रोग-शय्या पर आँखें बन्द किए पड़ी है। बुख़ार तेज़ है। सरसाम की हालत है। मौसी और विपिन रोग-शय्या के समीप चिन्ताग्रस्त बैठे हुए हैं। बड़बड़ा रही है सुखमा—वह चला गया, चला गया। मैं भी जाऊँगी उसके पास। मत रोको कोई मुझे। हटो, मौसी, मत रोको मुझे। विपिन! तुम बड़े पागल हो विपिन! जो न हो सके उसकी चाहना करना पागलपन नहीं तो क्या है? जीवन के सपने! कहाँ पूरे होते हैं जीवन के सपने? बम-वर्षक···दुश्मन के पड़ाव···भयानक दुर्घटना! अरे मनोहर हो तुम! यह हालत हो गई है तुम्हारी! मैं रेडियो-आपरेटर था उनके जहाज़ पर।

आँसू बहने लगे मौसी की आँखों से। छलक आये आँसू विपिन की आँखों में भी।

दिन भर ऐसी ही दशा रही। सन्ध्या के समय ज्वर कुछ घट गया। सरसाम की हालत दूर हो गई।

दो मास तक जीवन और मृत्यु के बीच झूलने के बाद सुखमा ज्वर से मुक्त हुई। दिल की धड़कन की तकलीफ़ बाक़ी रह गई।

डाक्टरों ने स्थान- परिवर्तन की सलाह दी। वे उसे घर लिवा ले गये।

(४)

सुखमा आ गई है अपने घर। कमज़ोरी दूर नहीं हुई है। दिल की धड़कन का दौरा हर दूसरे-तीसरे दिन हो जाता है। ज्वर भी अक्सर आ जाता है। एक नामी डाक्टर का इलाज हो रहा है। मौसी और विपिन पूर्ण मनोयोग से सेवा-सुश्रूषा कर रहे हैं।

"बिटिया," मौसी ने बाहर से आकर कहा, "डाक्टर साहब कहते हैं कि तुम्हें हर समय खुश रहना चाहिए, तबीयत खुश करने वाली बातें सोचनी चाहिए, हँसी-खुशी की बातें करनी चाहिये।

सुखमा कई क्षणों तक निस्तब्ध रही। फिर उसने कहा—मुझे अब जीने की इच्छा नहीं है, मौसी!

मौसी सन्न रह गई।

"तुम्हारे मन में जो दुःख है उसका आभास मुझे मिल चुका है, लेकिन दुःख को पाले रहने से किसी का कल्याण नहीं होता, बिटिया! अपने लिए न सही, मेरे लिए, अपने स्वर्गीय पिता के लिए, विपिन के लिए जीने की इच्छा करो।"

सुखमा गुम-सुम पड़ी रही।

"मैं साफ़-साफ़ कहे देती हूँ, सुखमा, कान खोलकर सुन लो। अगर तुम डाक्टर की सलाह न मानोगी, तो मैं तुम्हारी आँखों के सामने जान दे दूँगी। फिर तो मुझे कोई चिन्ता न रह जायगी? अपनी आँखों से तो वह सब न देखूँगी, जो देखना नहीं चाहती।" फिर वह बिपिन की प्रशंसा करने लगीं।

सुखमा पड़ी रही गुम-सुम।

तीसरे पहर सखी तारा आई। आते ही उसने कहा—"यह तू

ने मौसी से क्या कह डाला, सुखमा ! ऐसी बात भी कोई कहता है ? बड़ी दुखी हैं वह बेचारी ।"

कोई उत्तर नहीं दिया सुखमा ने ।

"आदमी पैरों के नीचे पड़े हुए हीरे पर दृष्टि भी नहीं डालता; दूर पड़े हुए नक़ली, चमकदार पत्थर की ओर दौड़ता है । विपिन बाबू मेरे बड़े भाई हैं । अगर मैं उनकी वकालत करूँ, तो तुम्हें बुरा न मानना चाहिए ।"

गुम-सुम पड़ी रही सुखमा ।

"मैं नहीं जानती कि पुरुष को गऊ कह सकते हैं या नहीं । अगर कह सकते हैं तो मैं कहूँगी कि विपिन दादा गऊ हैं, साक्षात गऊ !"

सुखमा जोर से हँस पड़ी । तारा भी हँसने लगी ।

"विश्वास कर, सुखमा," तारा ने मुस्कराते हुए कहा, "अगर किसी को ज़रूरत हो और वह विपिन दादा से कहे कि एक टाँग पर खड़े रहो, तो वह बिना सींग-पूछ हिलाये सारे दिन एक टाँग पर खड़े रहेंगे !"

दोनों ने फिर क़हक़हे लगाये ।

"अगर तुम डाक्टर की सलाह न मानोगी, तो तुम्हें गो-हत्या का पाप लगेगा !"

सुखमा ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

रात के आठ बजे थे । सुखमा अपने बिस्तर पर विचारों में खोई हुई पड़ी थी । विपिन अन्दर आया और दूर पड़ी हुई एक कुरसी पर बैठ गया ।

"पास आ जाओ," सुखमा ने कोमल स्वर में कहा ।

कुरसी उठाकर विपिन पास आ बैठा । दो क्षण तक सुखमा

निश्चल पड़ी रही। फिर एकाएक करवट बदल कर सुखमा ने विपिन का हाथ पकड़ लिया। विपिन चौंक पड़ा। सुखमा हँसने लगी।

"घबराइये नहीं, जनाब," मुस्कराते हुए उसने कहा। "कोई बेजा हरकत नहीं करूँगी!"

विपिन हँस पड़ा खिलखिला कर।

"बेजा हरकत!"

"कितने नेक हो तुम, विपिन? कभी तुम ने मुझसे कुछ माँगा नहीं, लेकिन मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे क्या चाहते हो। इस बात का मुझे बड़ा अफ़सोस है कि जो कुछ तुम चाहते हो, वह मेरे पास नहीं है।"

"जिस बात की ओर तुम्हारा इशारा है," विपिन ने कहा, "उससे मैं बहुत पहले परिचित हूँ। खैर, वह न सही, जो कुछ तुम्हारे पास है वही मेरे लिए बहुत है।"

एक दीर्घ निःश्वास खींचकर सुखमा ने आँखें बन्द कर लीं।

"तुम्हारे टूटे हुए दिल में जो दर्द है, उसे भी मैं जानता हूँ। बड़ा भयानक है वह, लेकिन ऐसा नहीं है कि दूर न हो सके। प्रबल इच्छा-शक्ति लगा कर उसे दूर करने की कोशिश करो। ज़रूर दूर हो जायगा।"

सुखमा चुपचाप पड़ी रही।

"बोलो, करोगी कोशिश?"

"करूँगी।"

तीसरे दिन सुखमा की परीक्षा कर चुकने के बाद जब डाक्टर मुकर्जी बाहर निकले, तो उन्होंने विपिन से कहा—सुधार के लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। अगर यह हालत जारी रही, तो मिस सिनहा एक महीने में बिलकुल चंगी हो जायँगी।

विपिन ने सन्तोष की साँस ली।

दुर्गम पथ

सौंदर्य का भार और यौवन का अल्हड़पन लिये, जीवन की वाटिका में फूल चुन-चुन कर मालती हार गूँथती रहती है। किसके लिए ? नहीं जानती किसके लिये। जानने की चेष्टा करती है, तो हृदय में एक अजीब-सी गुदगुदी भर जाती है और उसे न जाने कैसा लगने लगता है।

घर कोई आलीशान घर नहीं है। पक्का, साफ-सुथरा, छोटा-सा घर है। लेकिन इस छोटे-पन में जो हेय भावना है, वह उसे छू नहीं पाती। बड़ा सुन्दर, बड़ा प्यारा लगता है, उसे अपना यह छोटा-सा घर। घर में माता-पिता के सिवाय और कोई नहीं है। उनके पावन स्नेह की छाया ही उसके लिये बहुत है। एक बड़ा भाई था। वह चल बसा। काश, वह भी जीवित होता; काश; उसका भी दुलार-प्यार मिलता रहता ! लेकिन अब उसकी और उसके दुलार-प्यार की याद करके रो लेने के सिवाय और क्या किया जा सकता है ? जिस ने यह विचित्र दुनिया रची है, उसकी इच्छा के सामने किसी की क्या चल सकती है !

दादा जब से मरे हैं, तब से माँ का अधिकांश समय आराधना-उपासना में ही व्यतीत होता है। वह कहती हैं, माया-मोह में फँसे रहना ठीक नहीं। इह-लोक तो जैसा है वैसा है ही; कुछ पर-लोक की चिन्ता तो करनी ही चाहिए। और पिता जी? वह पहले से अधिक गम्भीर रहने लगे हैं और उसके प्रति उनकी ममता बहुत बढ़ गई है। उसे वह अपने साथ खिलाते हैं; उसे खुद पढ़ाते हैं; उसके आराम का पूरा ख्याल रखते हैं और क़रीब-क़रीब हर मामले में उससे सलाह लेते हैं।

दो-मंज़िले पर एक कमरा है और एक छत। उस कमरे में दादा रहा करते थे। उसी में वह पढ़ते-लिखते थे, उसी में सोते थे। अब वहा प्रायः बन्द पड़ा रहता है। तभी वह खुलता है, जब घर की सफ़ाई-पुताई होती है या जब पिता जी उसे खोलते हैं। उस कमरे की चाभी पिता जी के पास रहती है। कभी-कभी ताली लेकर वह ऊपर जाते हैं और बड़ी देर तक उस कमरे में न जाने क्या किया करते हैं। कमरा बन्द करके जब वह नीचे उतरते हैं, तो उनकी आँखें कुछ सुर्ख़, कुछ भींगी-सी रहती हैं। नीचे उतर कर, अपने हाथ से चिलम भर कर, तख़्त पर बैठ कर वह हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं। बड़ी देर तक वह हुक्का गुड़गुड़ाते रहते हैं। फिर हुक्का एक ओर रख कर, एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर, वह उठ खड़े होते हैं और घर से बाहर चले जाते हैं। उस समय न तो वह किसी से बोलते हैं और न कोई उन से बोलने का साहस करता है। उस समय बड़ी दया आती है मालती को उनके ऊपर, जी चाहता है कि उन्हें एक बच्चे की तरह अपनी गोद में भर ले। लेकिन मन का वह भाव वह किसी तरह प्रकट नहीं करती। कैसे प्रकट कर सकती है वह, मन के इस भाव को?

शिक्षा-दीक्षा के मामले में उसके माता-पिता पुरातनवादी नहीं हैं। आरम्भ ही से उसकी शिक्षा-दीक्षा की सन्तोषजनक व्यवस्था कर दी गई थी। नियमित रूप से वह पढ़ रही है। पढ़ना उसे अच्छा लगता है। कालेज से निकल कर वह विश्व-विद्यालय में दाख़िल होगी। फिर ? देखा जायगा फिर।

घर के काम-धन्धे में, पढ़ने-लिखने में, सखियों से हँसने-बोलने में समय बड़े मज़े में कट जाता है। लेकिन कभी-कभी जब चाँदनी आँगन में उतर आती है, जब अमराइयों में कोयल कूक उठती है, जब बासन्ती बयार फूलों की मादक सुगन्ध चारों ओर बिखेरने लगती है, जब सावन में काली-काली घटायें गगन-मण्डल में उमड़ आती हैं, तो मन में एक बड़ी मधुर पीड़ा उभर आती है; जी उचट जाता है और कुछ अच्छा नहीं लगता। फिर उस पीड़ा का सम्बन्ध एक ऐसे अभाव से जुड़ जाता है जिसकी बात सोचकर हृदय लज्जा और संकोच से भर जाता। कभी-कभी वह पीड़ा दूसरे ही दिन आप ही आप गायब हो जाती और कभी-कभी कई दिन तक टिकी रह जाती है। जब कभी वह टिकी रह जाती है, तो माँ उसका उतरा हुआ चेहरा देखकर चिन्तित हो उठती हैं। "जी कैसा है, बिटिया ? क्या बात है ? क्या तकलीफ़ है ? शरीर में कहीं दर्द तो नहीं है ? रात में नींद अच्छी तरह आई थी ? मेहनत तो ज़्यादा नहीं पड़ गई ?" लेकिन उसे कोई सन्तोषजनक उत्तर सूझता नहीं। मौन रह कर उत्तर देने के उत्तरदायित्व से बच जाना चाहती है; लेकिन वह गुरुतम उत्तरदायित्व किसी तरह पीछा नहीं छोड़ता। तब किसी न किसी तकलीफ़ की आड़ लेनी ही पड़ती है। घबरा कर पिता जी डाक्टर के पास दौड़े जाते हैं और कोई माक़ूल दवा लेकर वापस आते हैं। लेकिन उस माक़ूल दवा की उसे ज़रूरत

नहीं पड़ती। माँ, बाप अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसके रोग का उपचार करना चाहते हैं, लेकिन उसके मन की गहराइयों में उतर कर वहाँ का हाल तो वे देख नहीं सकते। फिर रोग का निदान हो तो कैसे हो? उनकी तबीयत रखने के लिए दवा वह ले तो लेती है; लेकिन उसे इस्तेमाल करने के बजाय उनकी नज़र बचा कर फेंक दिया करती है। पीड़ा आप ही आप धीरे-धीरे कम होकर गायब हो जाती है। फिर जीवन-क्रम पूर्ववत् चलने लगता है।

मार्गशीर्ष बीत चुका है; पौष आ गया है। सर्दी ऐसी पड़ने लगी है कि कुछ पूछिये नहीं। बस, यही जी चाहता है कि सरे-शाम से ही लिहाफ़ ओढ़ कर पड़ रहा जाय और रात भर उठने का नाम न लिया जाय। रात हो गई है; दुलाई ओढ़ कर तख्त पर बैठे हुए पिता जी हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं। शाल ओढ़े उनके समीप लालटेन के सामने बैठी हुई वह गणित का एक प्रश्न हल कर रही है, रामायण खुली हुई है और उसके पृष्ठों पर उनकी दृष्टि धीरे-धीरे चल रही है। बनवास का प्रसंग छिड़ा हुआ है। स्नेह सिसकियाँ भर रहा है। करुणा चीत्कार कर रही है। ज्ञान मूक है। रह-रह कर माँ की आँखों से आँसू की बूँदें ढुलक-ढुलक कर, रामायण के पृष्ठों पर गिर कर सूख जाती हैं। मालती यह देखती है और मन में खीझ उठती है। अगर ऐसे प्रसङ्ग न पढ़े जायँ जिन्हें पढ़ कर रोना आता है, तो क्या कुछ बुरा हो? लेकिन यह तो रोज़ का किस्सा है। रामायण का कोई ऐसा काण्ड नहीं जिसमें उन्हें आँसू बहाने के लिए मसाला न मिले।

"सुनती हो!" धुँये का सुरसुरा फेंक कर पिता जी ने कहा।

कोई उत्तर नहीं मिला।

"अरे रखो अपनी पोथी। इधर सुनो।"

"कहो," विवश होकर रामायण से दृष्टि उठा कर माँ ने कहा।

"पड़ोस में जो पेशकार साहब रहते हैं, उसका एक भतीजा है। लिखता-पढ़ता है। इस शहर में हाल ही में आया है। किसी होटल में ठहरा हुआ है; लेकिन वहाँ उसे आराम नहीं है। उसे टिकाने के लिए उनके यहाँ जगह नहीं है। इसलिए वे चाहते हैं कि हम उसे अपने घर में ठहरा लें। इसरार कर रहे हैं। जगह न होने की बात तो कोरी बहानेबाजी है; लेकिन हमें इससे कोई मतलब नहीं।"

"तो अब घर में किरायेदार टिकाओगे ?"

"किरायेदार टिकाने में कोई हर्ज है ?"

"हर्ज न समझो तो कोई हर्ज नहीं है।"

"अच्छा, मान लो कि मेरी समझ में कोई हर्ज नहीं है तो ?"

"जो उचित समझो करो। घर के मालिक हो।"

"और तुम घर की मालकिन हो। इसलिये तुम्हारी रज़ामन्दी उतनी ही ज़रूरी है जितनी मेरी।"

"उसे टिकाओगे कहाँ ?"

"ऊपर।"

"उस कमरे में ?"

"हाँ, वही कमरा उसके लिये ठीक रहेगा। उसे टिकाने में कोई हर्ज नहीं मालूम होता। बड़ा सुशील और नेक लड़का है। मैं उससे बात कर चुका हूँ।"

"किराया लोगे ?"

"क्यों न लूँगा ?"

"बस ठीक है। चलो आमदनी का एक और साधन निकल आया।" माँ हँसने लगी।

पिता जी भी हँसे, मालती भी मुस्कराई।

"तुम्हारी क्या राय है, मालती ?"

वह हँस कर रह गई। कोई उत्तर नहीं दे सकी।

पिता जी हुक्का गुड़गुड़ाने लगे। माँ फिर रामायण पढ़ने लगीं। मालती फिर गणित का वह प्रश्न हल करने लगी।

कैसा विचित्र विषय है गणित ! मस्तिष्क को कुरेद कर रख देता है। कभी कठिन से कठिन प्रश्न बड़ी आसानी से हल हो जायगा; लेकिन कभी सरल से सरल प्रश्न बड़ी मुश्किल से हल होगा। कोई बड़ा मुश्किल सवाल यह नहीं है, लेकिन न जाने क्यों हल नहीं हो रहा है। ठीक उत्तर निकलता ही नहीं। न जाने कैसे कहाँ से जोड़ने, घटाने, गुणा करने या क्या करने में गड़बड़ी हो गई है। छः छक्के छत्तीस और पाँच इकतालीस। अब यहाँ एक किरायेदार टिकेगा ! वह दादा के कमरे में रहेगा। वाह ! खूब रही ! सोलह में से नौ गये, बाकी बचे सात। किरायेदार ! दादा के कमरे में !

ग्यारह बज चुके हैं, रात के। फिर भी न जाने क्यों नींद नहीं आ रही है, मालती को ? क्या हो गया है पिता जी को ? अब घर में एक अजनबी आकर रहेगा और उस कमरे में रहेगा, जिसमें दादा रहते थे—उस कमरे में जिसे पिता जी सदैव बन्द रखते हैं और जिसमें किसी का जाना उन्हें पसन्द नहीं है। वह अजनबी क्या वास्तव में दादा के कमरे में रहने के योग्य है ? पिता जी कहते हैं कि वह लड़का बड़ा अच्छा है, सुशील है, लिखता-पढ़ता है। किंतु इतना सब होने पर भी क्या वह दादा का स्थान ले सकता है ? नहीं, यह असम्भव है। खैर, अब तो वह शायद यहाँ अवश्य ही रहेगा। पिता जी अगर निश्चय कर चुके हैं, तो वह उसे पलटेंगे

नहीं। विरोध अवश्य किया जा सकता है, लेकिन विरोध करे कौन? माँ तटस्थ हैं और शायद उसे भी तटस्थ ही रहना चाहिये। उस व्यक्ति के आ जाने पर घर में ऐसी स्वतंत्रता नहीं रहेगी जैसी आज है। प्रत्यक्ष न सही, अप्रत्यक्ष अवरोध का वातावरण तो अवश्य ही आ जायगा। खैर, देखा जायगा। कैसी भयानक सर्दी पड़ रही है! चेहरे के अतिरिक्त सारा शरीर लिहाफ़ के अन्दर है फिर भी ठंड अन्दर घुसी आ रही है। लिहाफ़ शायद कहीं कुछ खुल गया है।

दूसरे दिन प्रातःकाल बाहर से आकर पिता जी ने कहा—"मालती की माँ! आज उस कमरे की ज़रा सफ़ाई करा देना। कल सवेरे वह आ जायगा।"

"अच्छा!" माँ ने तरकारी काटते-काटते उत्तर दिया।

"यह लो चाभी।" और चाभी उन्होंने माँ के सामने फेंक दी।

उस दिन पाठशाला की कार्य-कारिणी समिति के एक सदस्य के असामयिक देहावसान के कारण पाठशाला बन्द थी। मालती छुट्टी मना रही थी। दोपहर के समय माँ ने कहा—"उस कमरे की सफ़ाई कर दोगी, बिटिया?"

मालती ख़ामोश रही।

"तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है? मैं खुद सफ़ाई कर डालती; लेकिन ज़रा आराम करने को जी चाह रहा है।"

आपत्ति? एक दिन का कटु अनुभव स्मरण हो आया। माँ उस कमरे की सफ़ाई कर रही थीं। एकाएक वह फफक-फफक कर रोने लगीं। बड़ी देर के बाद वह सँभल सकीं। फिर सारे दिन उनकी तबीयत ख़राब रही। कैसी परेशानी हुई थी उसे उस दिन!

"बोलो, क्या कहती हो?"

"अच्छी बात है। कर दूँगी सफ़ाई।"

"तो कर डालो जाकर।"

आलमारी से चाभी लेकर वह कमरे से बाहर निकली और झाड़ू लेकर ऊपर गई। दरवाज़ा खोल कर वह उस कमरे के अन्दर पहुँची।

कमरे का वातावरण ज्यों का त्यों बना था। फ़र्क केवल इतना था कि वहाँ विकट शून्य आ बसा था। चारपाई अपने स्थान पर ज्यों की त्यों पड़ी थी। तस्वीरें, मेज, कुरसियाँ, सारी चीज़ें अपने अपने निश्चित स्थान पर ज्यों की त्यों मौजूद थीं। बस, बात केवल इतनी थी कि तमाम चीज़ों पर धूल-गर्द की पतली, मोटी तहें जमी हुई थीं।

उधर उस खूँटी पर टँगा हुआ झाड़न लेकर वह फ़र्नीचर साफ़ करने लगी। दादा का फ़ोटो साफ करते करते उसकी आँखें भर आईं, और आँसू की दो बूँदें उसके कपोलों पर ढुलक पड़ीं। यह तो वही हुआ जो माँ कर बैठती हैं, जो शायद पिता जी भी करते हैं! आँखें पोंछ कर वह अगले चित्र की ओर बढ़ गई।

फ़र्नीचर साफ़ कर चुकने के बाद उसने झाड़ू लगाई। इसके बाद उसने एक बार फिर फ़र्नीचर साफ़ किया। सारी चीज़ें चमक उठीं। कमरे ने भी जैसे शान्ति की साँस ली; किन्तु वह शून्य वहाँ उसी तरह आसन जमाये रहा। दूर हो जायगा यह शून्य, उस व्यक्ति के आ जाने पर? हो जाय तो अच्छा ही हो। सारे घर पर इस शून्य की छाया है। यह शून्य तो तभी हट सकेगा, अगर वह व्यक्ति दादा का स्थान ले सके। ले सकेगा, वह उनका स्थान? असम्भव-सा लगता है। ख़ैर, जो हो, उन हज़रत से यह तो कह ही देना चाहिये कि वह यहाँ की किसी चीज़ को ज़रा भी इधर-उधर न करें।

लेकिन कहेगा कौन यह बात ? वह तो कह न सकेगी। निस्संकोच भाव से, स्पष्ट रूप से, वह कैसे कह सकेगी एक अजनबी से कोई बात ? कितने अच्छे थे दादा !

चलने लगे अतीत के चित्र उसकी आँखों के सामने। वह बड़ी देर तक बैठी रही—निस्तब्ध, उद्वेलित, करुणा-द्रवित। फिर कमरा बन्द करके वह नीचे चली गई।

दूसरे दिन सवेरे साढ़े आठ बजे के क़रीब सदर दरवाज़े की जंज़ीर खड़खड़ा उठी। मालती ने दरवाज़ा खोला। सामने खड़ा था एक युवक और उसके पीछे कुछ दूरी पर खड़ा था एक ताँगा। तस्वीर खिंच गई उस युवक की मालती की आँखों में। वह तेज़ी से पीछे हट गई। पिता जी आगे बढ़े। हाथ जोड़ कर युवक ने नमस्कार किया।

"नमस्कार ! आ गये, भाई ?"

"जी हाँ।"

युवक ताँगे से असबाब उतारने लगा। ताँगे वाला उसकी सहायता करने लगा। पिता जी ने भी सहायता करनी चाही।

"आप कष्ट न करें," युवक ने शालीनतापूर्वक मना किया।

पिता जी अलग हट गये। असबाब उतारा जाता रहा। असबाब अन्दर आ गया। ताँगे वाले को विदा करके वह भी अन्दर आया।

"मालती की माँ ! देखो, यही हैं सतीश बाबू।"

"अच्छा, यही हैं।"

युवक ने हाथ जोड़े, फिर झुक कर पैर छुये।

"खुश रहो !" माँ ने आशीर्वाद दिया।

"सतीश बाबू !" पिता जी ने कहा—"देखिए, यह है मेरी बेटी मालती ।"

युवक ने हाथ जोड़ कर मालती को भी नमस्कार किया । किसी तरह हाथ जोड़ दिये मालती ने भी ।

"अच्छा, बेला भी साथ है । आप बेला बजा लेते हैं क्या, सतीश बाबू ?"

"जी हाँ, बजा लेता हूँ थोड़ा-बहुत ।"

"बड़ी अच्छी बात है । मुझे भी कभी तबला बजाने का शौक था । दो-चार संगीत प्रेमी मित्र भी थे । अक्सर संगत हो जाती थी; लेकिन अब तो न वे मित्र ही रह गये हैं, न तबीयत ही वैसी रह गई है । तबले की एक जोड़ी घर में अभी तक पड़ी हुई है ।"

युवक ने इस तरह सिर हिलाया, जैसे वह सब कुछ समझ गया हो । उसे साथ लेकर पिता जी ऊपर चले गये ।

दुबला-पतला लम्बा शरीर, निर्दोष मुखाकृति, गेहुआँ रंग । खद्दर का ढीला पायजामा, खद्दर की वास्कट, खद्दर की टोपी, बढ़िया चप्पल । वाणी मधुर, व्यवहार भद्रोचित । कुछ बुरा तो नहीं है यह अजनबी । लेकिन क्या वह ले सकेगा दादा का स्थान ? असम्भव-सा लगता है ।

पिता जी नीचे उतरे । युवक भी उतरा उनके पीछे-पीछे । अपनी सारी चीज़ें वह उठा ले गया ऊपर—एक-दो करके ।

क्लास लगा हुआ है । अध्यापिका जी इतिहास पढ़ा रही हैं । महारानी एलिज़ाबेथ के शासन-काल का प्रसंग छिड़ा हुआ है । सारी लड़कियाँ चुपचाप बैठी सुन रहीं हैं । मालती भी सिर झुकाये हुये निस्तब्ध बैठी हुई है; लेकिन अध्यापिका जी की बात उसके कानों में नहीं घुस पा रही है । दुबला-पतला, लम्बा शरीर,

निर्दोष मुखाकृति, गेहुँआ रंग। वाणी मधुर। व्यवहार भद्रोचित। कुछ बुरा तो नहीं है वह अजनबी। लेकिन—

रात हो गई है। चिराग़ जल चुके हैं। सहसा ऊपर बेला बजने लगता है। उसकी सुमधुर ध्वनियाँ दिशाओं में गूँज-गूँजकर मधुरतम वातावरण की सृष्टि कर रही हैं। प्राणों को जैसे छुये ले रही हैं सुकोमल स्वर-लहरियाँ। पिता जी का चेहरा खिल उठता है। हुक्का हाथ में लिये हुये वह ऊपर चले जाते हैं। बेला बन्द हो जाता है। वार्त्तालाप की हल्की आवाज़ें आने लगती हैं। बेला फिर बजने लगता है, ज़रा देर के बाद। पिता जी उतर आते हैं लालटेन लेकर, उस कमरे में जाकर, काठ की बड़ी संदूक से तबले की जोड़ी निकाल कर वह फिर ऊपर चले जाते हैं। तबला मिलाया जाता है। फिर होने लगती है सङ्गत। कैसा सुन्दर, कैसा विचित्र समाँ बँध गया है? लगता है जैसे केवल वही सार्थक है सत्य है, और सब कुछ हेय है, मिथ्या है। ऐसा बुरा तो नहीं है यह अजनबी। लेकिन—

'मैं गिरिधर रंग राती!'

अच्छा आप गाते भी हैं! बड़ा सुरीला गला पाया है। क्या अच्छा पद है—'मैं गिरिधर रंग राती!' जैसे भक्ति की गंगा बह जा रही है!

'कोई के पिया परदेस बसत हैं,

लिख-लिख भेजें पाती।

मेरे पिया मेरे हीय बसत हैं,

ना कहुँ आती जाती।

किसे अवगत नहीं है यह चिरंतन सत्य? किन्तु खोज जारी ही रहती है, प्राप्ति दूर भागती ही रहती है। प्राणी के प्राणों में रसी घोलने वाला, उसके हीय में बसने वाला उससे लुका-छिपा क्यों

रहता है ? ओह ! कैसा सुन्दर गीत है ! जैसे रस बरस रहा है—रिमझिम-रिमझिम ?

बड़ी देर तक संगत जमी रही। भोजन कब का तैयार हो चुका था। आनन्द कुछ कम नहीं मिल रहा था माँ को भी; किन्तु उन्हें गृहणीत्व के उत्तरदायित्व का भी ख्याल था।

"ज़रा जाकर बाबू जी को बुला लाओ, बिटिया," माँ ने कहा—"खाना सूखा जा रहा है। क्या रात भर महफ़िल जमाये रहेंगे ?"

"अच्छा।"

मालती सकुचाती हुई ऊपर गई। गाना बन्द हो गया था। संगीत सम्बन्धी कोई गूढ़ प्रसंग छिड़ा हुआ था। पूर्ण तल्लीनता से सम्मतियाँ प्रकट की जा रही थीं। फ़र्श पर बिछी हुई दरी पर दोनों व्यक्ति बैठे हुए थे।

"बाबू जी !"

युवक ने चौंक कर उसकी ओर देखा। मालती ने लजा कर अपनी दृष्टि नीची कर ली।

"क्या है, बिटिया ?" पिता जी ने पूछा।

"अम्मा बुला रही हैं। खाना सूखा जा रहा है।"

अच्छा, चलो, बिटिया, अभी आता हूँ"

वह मुड़कर नीचे चली गई। उसकी वह दृष्टि ! उस दृष्टि में चित्रित वह विचित्र भाव ! खूब चौंकते हैं हज़रत ! कुछ बुरा तो नहीं है वह ! लेकिन—

"क्या कहा बाबू जी ने ?"

"अभी आते हैं।"

पन्द्रह मिनट के बाद पिता जी नीचे आये। प्रसन्नता से खिले

जा रहे थे वह।

"वाह, साहब, वाह! आज तो आप को जैसे खज़ाना मिल गया! खाने-पीने की फ़िक्र भी नहीं रह गई।"

"कुछ पूछो नहीं। संगीत चीज़ ही ऐसी है। बड़ा गुणी लड़का है। मैंने तो समझा था कि अब इस जन्म में कभी तबला हाथ से न छुऊँगा, लेकिन उसने आज मुझसे बजवा ही लिया।"

"उसके गुणी होने में तो कोई शक नहीं है।"

"लेखक है, किताबें वगैरा लिखता है; संगीत का भी अच्छा जानकार है। अच्छा, परोसो खाना।"

लेखक है, संगीत का जानकार है, निर्दोष सूरत-शक्ल वाला है, व्यवहार-कुशल है। कुछ बुरा तो नहीं है। लेकिन—

(२)

दिन शनैः-शनैः बीत रहे हैं। सतीश के आ टिकने से मालती के लिए घर में अप्रत्यक्ष अवरोध का वातावरण तो अवश्य आ गया है, लेकिन उसे बुरा नहीं लगता वह अवरोध। वह ज़ोर से हँसती नहीं, ज़ोर से बोलती भी नहीं, माँ को प्रिय लगने वाली नटखटपन की सारी बातें भी जैसे वह भूल गई है, फिर भी वह दिन-प्रति-दिन निखरती जा रही है। मन में न जाने क्या-क्या लिए हुए वह कुछ खोजती-सी रहती है। यह आकस्मिक परिवर्त्तन माँ की दृष्टि से छिपा नहीं है, लेकिन चिन्तित होने का कोई कारण उन्हें दिखाई नहीं देता।

सन्ध्या के समय जब सतीश वायु-सेवन और भोजन करने के लिए घर से बाहर चला जाता है, तो मालती नित्य ऊपर जाती है। ऊपर पहुँच कर, खुली हुई खिड़की से सटकर, वह देर तक कमरे के अन्दर झाँकती रहती है। इस निरर्थक कृत्य में उसे विशेष

सन्तोष प्राप्त होता है। वह कमरा अब काफ़ी शान्त दिखाई देता है। जो विकट सूनापन वहाँ पहले आसन जमाये था; वह अब क़रीब-क़रीब दूर हो गया है। ऐसा बुरा तो नहीं है सतीश। शायद ले सके वह दादा का स्थान।

शाम हो गई थी। सतीश नीचे उतरा और सदर दरवाज़ा खोल कर घर से बाहर हो गया। ज़रा देर के बाद मालती ऊपर पहुँची। नित्य की भाँति आज दरवाज़े पर ताला नहीं लगा था। साँकल भी नहीं चढ़ी थी, दरवाज़ा केवल भिड़ा था। अन्दर जाना चाहिए ? नहीं हर्ज क्या है ? हर्ज तो कोई वैसा नहीं है। तब ?

धीरे से दरवाज़ा खोल कर वह कमरे के अन्दर पहुँची। सारी चीज़ें अपने-अपने स्थान पर ज्यों की त्यों मौजूद थीं। कोई चीज़ अपने स्थान से ज़रा भी इधर-उधर हटी नहीं थीं। इसी सम्बन्ध में किसी आदेश की उसे ज़रूरत नहीं पड़ी। बड़ा समझदार है सतीश ! पहले ही की तरह खूब साफ़-सुथरा, चमकता-दमकता दिख रहा है सारा कमरा। धूल-गर्द का कहीं नाम नहीं है। सारी चीज़ें प्रसन्न दिखाई दे रही हैं। दादा का चित्र भी जैसे मुस्करा रहा है। श्रेय की बात है यह सतीश के लिए।

इधर-उधर घूमकर वह मेज़ के पास पहुँची। मेज़ पर पुस्तकें कागज़, पैड, क़लम, दावात, पेन्सिल आदि चीज़ें कायदे से सजाकर रखी हुई थीं। पैड पर पेपरवेट के नीचे कागज़ का एक पन्ना दबा हुआ था। कुछ लिखा था उस कागज़ पर। कौतूहलवश उसे उठा कर मालती पढ़ने लगी—

"नारी पुरुष के लिए एक जटिल पहेली है। उस जटिल पहेली को हल करने में पुरुष के जीवन का अधिकांश भाग समाप्त हो जाता है। फिर भी पहेली पहेली ही बनी रहती है। अगर किसी

तरह वह पहेली हल हो भी जाती है, तो उसे लगता है कि वह भारी भ्रम में था—जिसे उसने स्वर्ण समझा था, वह स्वर्ण नहीं पीतल था !'

वाह ! कैसी अनोखी सूझ है ! नारी-जाति के लिए ऐसे अपमान-जनक शब्द ! जैसे पुरुष सद्गुणों के पुतले ही तो हैं ! खीझ उठी वह ।

सहसा एक विचित्र विचार उसके मस्तिष्क में बिजली की तरह कौंध गया । प्रसन्नता से खिल उठा उसका चेहरा । क़लम उठाई, दावात में डुबो कर उपर्युक्त वाक्यों के नीचे उसने लिख दिया—

'पुरुष बन्दर हैं । बन्दर जब तक स्वतन्त्र रहता है, तब तक उत्पात मचाता फिरता है, लेकिन जब वह मदारी की डोर में बँध जाता है, तो उसका अस्तित्व अनिवार्यतः शान्त होकर उपयोगी बन जाता है । नारी मदारी है और उसकी डोर में बँध जाने पर ही पुरुष रूपी बन्दर का अस्तित्व सार्थक होता है ।'

कैसा ज़बरदस्त उत्तर है ! खूब छकेंगे लेखक महोदय । वह आप ही आप हँस पड़ी ।

दूसरे दिन सन्ध्या के समय सतीश के घर से बाहर चले जाने पर, जब मालती फिर ऊपर गई, तो उसने देखा कि कल की तरह आज भी कमरे के दरवाज़े पर ताला नहीं लगा है और साँकल भी नहीं चढ़ी है । दरवाज़ा खोलकर वह कमरे के अन्दर गई । सबसे पहले उसकी दृष्टि मेज़ पर ही गई । पैड पर आज भी काग़ज़ का एक टुकड़ा दबा था । उस पर लिखा था—

'खूब रही बन्दर की मिसाल ! नारी-जाति की वकालत करने वाली आदरणीय लेखिका महोदया की विलक्षण सूझ का मैं क़ायल

हो गया। पुरुष बेशक बन्दर है। एक बन्दर इस कमरे में भी रहता है। अराजकता का क्रियाशील समर्थन कर सकने की सामर्थ्य वह अपने में नहीं पाता। फिर भी सम्भव है, अज्ञात रूप से समाज के प्रति उससे अपराध हो गए हों। अगर बात ऐसी है, तो उसे खेद है। अनिवार्य परिस्थिति आ उपस्थित होने पर अन्य बन्दरों की भाँति उसे मदारी की डोर में बँध जाना ही पड़ेगा। खूब रही बन्दर की मिसाल—बहुत खूब!'

मुसकराने लगी मालती। बड़ा चतुर है यह लेखक। मुँह की खा जाने पर वह झल्लाता नहीं, खीभता नहीं। सच्चा खिलाड़ी हार जाने पर अपने प्रतिद्वंद्वी के कौशल की सराहना करता है, उसे कोसता नहीं। बुरा नहीं है सतीश। अनुमानतः ले सकेगा वह दादा का स्थान।

ज़रा देर के बाद मन में विजय का गौरव लिए, मुसकराती हुई वह कमरे से बाहर निकली और दरवाज़ा बन्द करके नीचे चली गई। लग रहा था उसे कि उसकी खोज अब समाप्त होने को है, प्राप्ति निकट है।

दिन का तीसरा पहर था। माँ ने नाश्ते के लिए हलवा बनाया था। शीशे की एक तश्तरी में थोड़ा-सा हलवा रख कर माँ ने कहा—"इसे सतीश को दे आओ, बिटिया!"

चुपचाप तश्तरी लेकर वह ऊपर गई। कुरसी पर बैठा हुआ, मेज़ पर झुका हुआ वह लिख रहा था, पूर्ण तन्मयता से। मालती ठिठक गई दरवाज़े के समीप। सतीश को ज्ञान नहीं हो सका उसके आगमन का। तब साहस कर मालती ने प्रवेश किया कमरे में।

सिर उठा कर मालती ने उसकी ओर देखा। मुस्कराहट व्यक्त

हो गई उसके चेहरे पर। सिर झुका कर मालती ने तश्तरी मेज़ पर रख दी।

"अच्छा, हलवा ले आई हो! धन्यवाद!"

मालती कुछ कह नहीं सकी।

"किसी मदारी को जानती हो, मालती! एक बन्दर है। उसे पकड़वाना है!"

धीरे से हँस कर मालती तेज़ी से कमरे के बाहर हो गई। वही बात अभी तक हज़रत के दिमाग़ में गूँज रही है! मदारी को तो वह जानती है; लेकिन यह बात कि बन्दर उत्पाती है या नहीं, अभी निश्चित नहीं है। पकड़ा तो वह एक न एक दिन अवश्य ही जायगा लेकिन यह तो भविष्य ही बतला सकेगा कि कौन उसे पकड़ेगा।

पौष बीत चुका है। माघ भी अब समाप्त होने को है। सतीश अब परिवार का एक सदस्य बन गया है। भोजन भी अब वह घर में हो करता है। उसके बेले और पिता जी के तबले की संगत अक्सर होती है। पिता जी उसे बहुत मानते हैं, माँ भी उसे मानती हैं। मालती भी उसे आदर की दृष्टि से देखने लगी है।

दो सप्ताह पहले एक दिन पिता जी ने सतीश से अनुरोध किया था कि वह मालती को गाना और बेला बजाना सिखा दिया करे। सीखने-सिखाने का क्रम तब से नियमित रूप से चल रहा है सतीश से संगीत की शिक्षा लेने में अब मालती को ज़रा भी हिच-किचाहट महसूस नहीं होती। लेकिन वह दिन वह कभी नहीं भूल सकेगी, जब पहले-पहल सतीश ने उसे गाना सिखाना शुरू किया था। संगीत से वह पूर्णतः अनभिज्ञ नहीं थी; पाठशाला में संगीत की थोड़ी-बहुत शिक्षा मिलती ही थी। लेकिन उस दिन तो उसके गले से कोई स्वर शुद्ध रूप से निकलता ही नहीं था। पन्द्रह-बीस

मिनट तक कठिन प्रयास करने के बाद वह ठीक तरह गा पाई थी 'अवगुन न कीजिये---

किसी साहित्यिक सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये सतीश बाहर गया हुआ है। उसे गये तीन दिन हो चुके हैं। न जाने क्यों उचटा-उचटा-सा रहता है मालती का चित्त। किसी काम में मन नहीं लगता। ऊपर जाकर वह बड़ी देर तक खिड़की से कमरे के अन्दर झाँका करती है, छत पर टहलती रहती है। सतीश कौन है उसका? शायद...कोई नहीं। फिर उसकी बात वह क्यों सोचती रहती है? कैसी लज्जा की बात है! लेकिन लगता है उसे कि उस लज्जा की बात से वह किसी तरह छुटकारा नहीं पा सकेगी।

पाँचवें दिन सबेरे बड़े तड़के किसी ने घर का दरवाजा खट-खटाया। तुरन्त बिस्तरे से उठकर, कमरे से निकल कर, मालती ने सदर दरवाज़ा खोला। सतीश सामने खड़ा था। दोनों की आँखें मिलीं! मालती ने मुसकरा कर हाथ जोड़े। सतीश ने भी हाथ जोड़े, मुसकरा कर। मिट गया मालती के हृदय का गहन विषाद। पुलकायमान हो उठा उसके शरीर का रोम-रोम। ले लिया सतीश ने दादा का स्थान? नहीं, वह बढ़ गया दादा से बहुत आगे। कैसा पागलपन है यह! लेकिन कोई इलाज कहीं है इस पागलपन का!

एक सप्ताह से मालती ज्वर से पीड़ित है। डाक्टर की सम्मति है कि ज्वर मियादी है। मियादी ज्वर बड़ा खतरनाक होता है। बड़ी सावधानी से मरीज़ की सेवा करनी पड़ती है। मरीज़ की सेवा में किसी तरह की कोई असावधानी या त्रुटि नहीं होने पा रही है। उसकी सेवा-सुश्रूषा का सारा भार माँ और सतीश के ऊपर है। यह काम कर सकने की सामर्थ्य पिता जी अपने में नहीं पाते। सतीश डाक्टर से हाल कहने जाता है; दवाखाने से दवा लाता है।

दिन में घण्टों रोग-शैया के समीप बैठा रहता है और रात में जब माँ को नींद आ जाती है, तब भी घण्टों मालती की देख-रेख करता रहता है। इतना सब क्यों करता है वह ? रोगियों की सेवा करना स्वस्थ मनुष्यों का परम धर्म है; किन्तु इस पावन भावना के अतिरिक्त एक अन्य भावना की प्रेरणा भरी हुई है उसके मन में। वह चाहता है कि वह मालती को एक हरी-भरी, सुविकसित लता के रूप में ही देखे—

बस यही एक है चाह मुझे
तुम नित्य निरखती जाओ !'

आकस्मिक तुषारपात के कारण आज वह लता मुर्झाई जा रही है। इसलिये उसे सँभलने और पुनः पनप सकने योग्य बना देने के निमित्त सतीश की सारी चेष्टायें स्वभावतः प्रयत्नशील हैं। इसके अतिरिक्त और क्या कर सकता है सतीश ? वह मनुष्य ही तो है और मनुष्यत्व का तकाज़ा है, अवहेलना वह कैसे कर सकता है ?

अर्द्ध रात्रि बीत चुकी है। रोग-शैया के समीप एक आराम कुरसी पर सतीश बैठा हुआ है। उधर दूसरी चारपाई पर माँ सो रही हैं। कराह कर मालती आँखें खोलती है।

"क्या बात है मालती ?"

"प्यास लगी है।"

उठ कर, शीशे के गिलास में जल लेकर, वह धीरे से मालती को उठाता है और उसे जल पिला कर फिर धीरे से लेटा देता है। लेकिन मालती का कराहना बन्द नहीं होता।

"क्या तकलीफ़ है, मालती ?"

"सिर में बड़े ज़ोर का दर्द है।"

उधर की उस आलमारी से 'बाम' की डिबिया उठा कर, वह रोगिणी के गर्म माथे पर 'बाम' मलने लगता है।

"आप को बड़ा कष्ट हो रहा है मेरे कारण।"

"नहीं, मालती, मुझे ज़रा भी कष्ट नहीं हो रहा है। ऐसी बात मत सोचो।"

"इतना सब आप मेरे लिये क्यों कर रहे हैं?"

"इसलिये कि इसके अलावा मैं और कुछ नहीं कर सकता।"

मालती आँखें बन्द कर लेती है दर्द घटा जा रहा है तेज़ी से। नींद फिर आने लगी है।

इकतीसवें दिन ज्वर उतरा। भगवान् की दया, डाक्टर की दवा और तीमारदारों की अनवरत सेवा के फल-स्वरूप मालती एक मास के बाद बिलकुल चंगी हो गई। उसके स्वास्थ्य-लाभ करने के उपलक्ष्य में पिता जी ने एक दिन आनन्दोत्सव का आयोजन किया।

उस दिन सारे दिन घर में खूब चहल-पहल रही। तीसरे पहर कई घण्टों तक स्त्रियों की ढोलक ठनकी। सन्ध्या के समय कितने ही नातेदार, मुलाक़ाती और मित्र प्रीति-भोज में सम्मिलित हुए। रात में पुरुषों की महफ़िल जमी। सतीश अपने कई सङ्गीतज्ञ मित्रों को बुला लाया था। आधी रात तक गाना-बजाना होता रहा।

रात के तीन बज चुके थे। माँ सो रही थीं। पिता जी भी सो गए थे; लेकिन मालती की आँखों में नींद नहीं थी। बड़ी प्रसन्न थी वह। सतीश के प्रति अपार कृतज्ञता उसके हृदय में लहरें मार रही थी। धीरे से उठ कर, कमरे से बाहर निकल कर वह दबे पाँव ऊपर गई।

लैम्प जल रहा था उस कमरे में। सतीश आराम-कुरसी पर लेटा हुआ था। वह भी जाग रहा था। मालती ने धीरे से कमरे में प्रवेश किया। दृष्टि उठा कर सतीश ने उसकी ओर देखा—'अरे तुम यहाँ इस समय !' उसकी आँखों ने चकित होकर कहा। लेकिन मालती विचलित नहीं हुई। जो निश्चय वह करके आई थी, उसे तो पूरा करना ही था।

"सतीश बाबू ! आप ही की देख-रेख का यह फल है कि मैं उस घातक रोग से छुटकारा पाकर अच्छी हुई हूँ।

"नहीं, मालती, बात यह नहीं है। यह तो केवल भगवान् की कृपा का फल है।"

"आपकी नेकी का बदला तो शायद मैं कभी चुका नहीं सकूँगी; लेकिन अगर मैं आपकी कोई सेवा कर सकूँ, तो करने को तैयार हूँ।"

क्या उत्तर दे सतीश ? मन की जिस बात को वह दबाये रखना चाहता है, उसे वह प्रकट कैसे कर सकता है ? स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त मालती की उस सरल भावना से लाभ उठाना किसी तरह उचित नहीं।

"मालती !" दो क्षण रुक कर उस ने कहा, "मेरी केवल यही कामना है कि तुम हमेशा सुखी रहो। इससे अधिक मैं कुछ नहीं चाहता।"

बस, इतना ही ! इस से अधिक कुछ नहीं ?

"रात बहुत जा चुकी है, मालती ! अब जाकर सो रहो। दो-चार घंटे भी न सोओगी तो तबियत फिर खराब हो जायगी।"

मुड़ कर, धीरे से कमरे से निकल कर, मालती दबे पाँव नीचे चली गई। दादा से बहुत आगे बढ़ गया है सतीश। आदरणीय है,

महान् है वह ।

(३)

"कुछ सुना तुमने, मालती की माँ ?" हुक्का गुड़गुड़ा कर पिता जी ने कहा ।

"नहीं तो । क्या बात है ?"

"सतीश अब यहाँ नहीं रहेगा ।"

"क्यों ? उसे यहाँ कोई तकलीफ़ है क्या ?"

"नहीं, यह बात तो नहीं है "

"फिर क्या कारण है ?"

"उसके कोई रिश्तेदार कुछ अर्से से बीमार हैं और अपना इलाज करवाने के लिये वह इस शहर में आ रहे हैं । उनके आराम और देख-रेख का भार सतीश के ऊपर रहेगा । इसलिये उनके कहने से उसने बाबूगंज में एक मकान किराये पर ले लिया है । कल वह उस मकान में चला जायगा ।"

"बात अगर ऐसी है, तो क्या किया जा सकता है ?"

एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ कर पिता जी चिलम रखने चले गये । उनके चेहरे पर विषाद अंकित था । माँ के चेहरे पर भी विषाद व्यक्त हो गया और मालती के ऊपर वज्रपात हुआ ।

तो वह चला जा रहा है यहाँ से ? क्यों जा रहा है वह ? क्या वास्तविक कारण वही है जो उसने पिता जी को बतलाया है ? उसे यही करना था तो इस घर से इतना लगाव उसने क्यों कायम किया ? कैसा लगेगा घर उसके चले जाने के बाद ? शायद रहने के क़ाबिल भी नहीं रहेगा । कैसा है यह व्यक्ति—देवता या निरा पत्थर ?

रात में अवसर पाकर मालती ऊपर गई । सतीश मेज़ पर

झुका हुआ लिख रहा था। मालती ने कमरे में प्रवेश किया। सिर उठा कर सतीश ने उसकी ओर देखा। सतीश का चेहरा उतरा हुआ था ?"

"आप यहाँ से जा रहे हैं क्या ?"

"हाँ ?"

"यहाँ क्या आपको कोई कष्ट है ?"

"नहीं तो !"

"तब क्यों जा रहे हैं आप ?"

एक क्षण चुप रहा सतीश।

"बात यह है कि जिस घर से मैंने इतना आदर-मान और स्नेह पाया है, उसे मैं बर्बाद करना नहीं चाहता।"

"इसका क्या मतलब है ? इस घर को तो आप से लाभ ही हुआ है, हानि कुछ भी नहीं हुई।"

"हानि होने लगी है और आगे बहुत अधिक हो सकती है।"

"आप पहेली बुझा रहे हैं।"

"पहेली दुर्बोध नहीं है। गौर करने पर हल हो जायगी।"

"अटल है आपका निश्चय ?"

" हाँ, अटल है। मुझे खेद है, लेकिन मैं विवश हूँ।"

एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर, मुड़ कर, मालती कमरे से बाहर हो गई। वह पहेली ! अनभिज्ञ नहीं थी वह उस पहेली के अर्थ से; वह तो सुनना चाहती थी स्वयं सतीश के मुख से उसका अर्थ। उसकी आशंका सत्य निकली, उसी के कारण सतीश ने वह निश्चय किया है। हानि, लाभ ! एक दृष्टिकोण के अनुसार जो बात हानिकर होती है, वही दूसरे दृष्टिकोण से विचार करने पर लाभदायक सिद्ध हो सकती है। और सामाजिक मर्यादायें ? युग की

प्रेरणा के अनुसार बदलती रहती हैं। सामाजिक मर्यादायें। इतनी-सी बात क्या नहीं समझ सके लेखक महोदय ? यह बात असम्भव-सी लगती है। क्या है, यह व्यक्ति—देवता या निरा पत्थर ?

दूसरे दिन सतीश उस घर से विदा हो गया। जाते समय वह वायदा कर गया कि वह कभी-कभी हाल-चाल लेने और मालती को सङ्गीत-शिक्षा देने आया करेगा।

कई दिन बीत चुके हैं। घर अशान्त हो उठा है। पिता जी चिन्तित दिखाई देते हैं। कुछ चिन्तित दिखाई देती हैं माँ भी। और मालती ? घर काटे खाता है उसे, कुछ अच्छा नहीं लगता। और जिसके कारण उस घर की ऐसी दशा है, उसे परवाह नहीं है उसकी। कैसा व्यक्ति है सतीश—देवता या निरा पत्थर ?

शाम हो गई है। नित्य की भाँति ऊपर पहुँची हुई है मालती। शून्य आ बसा है उस कमरे में—पहले से कहीं अधिक विकट। कैसा अभिशाप आ पड़ा है इस घर पर कि किसी तरह पिंड नहीं छोड़ता। शान्ति किसी तरह आती भी है, तो टिक नहीं पाती। कितना बड़ा अपकार किया है सतीश ने इस घर के प्रति ! नाता तोड़ना ही था, तो उसने इतना लगाव क्यों क़ायम किया इस घर से ? अगर उसे कोई चाह नहीं थी, तो घर के बिगड़ने की क्या आशंका थी ? और फिर उसके उस कठोर निश्चय के कारण क्या आज यह घर नहीं बिगड़ रहा है ? सतीश कौन है उसका ? शायद—कोई नहीं ! कोई नहीं ? फिर वह क्यों घेरे रहता है उसे हर घड़ी ? कैसा व्यक्ति है वह—देवता या निरा पत्थर ? पत्थर बन जाना चाहिए उसे भी। लेकिन मोम बनकर कोई कैसे बने पत्थर !

एक सप्ताह के बाद एक दिन वह तीसरे पहर आया। माँ प्रसन्न हुई। मालती ने भी शान्ति की साँस ली।

"तुम्हारे वह रिश्तेदार आ गये, भैया ?"

"नहीं, अम्माँ, वह तो नहीं आ सके। उन्होंने अपना इरादा बदल दिया। डाक्टरों ने उन्हें सफ़र करने की राय नहीं दी।

"तब तुम उस घर में क्यों पड़े हो ? यहाँ वापस क्यों नहीं आ जाते ?"

"उसमें मुझे कोई तकलीफ़ नहीं है। मेरे लिए वह कुछ बड़ा ज़रूर है। कोई ठिकाने का आदमी मिल जायगा, तो उसे टिका लूँगा।"

"ख़ैर, तुम यहाँ आओ या न आओ बेटा ! इसमें कोई सन्देह नहीं है कि तुम इस घर को सूना कर गये।"

सतीश कुछ कह नहीं सका। सिर झुका कर वह फ़र्श की ओर ताकने लगा।

"एक बड़ा अच्छा फ़िल्म आया है। देखने चलियेगा ?"

"मैं क्या करूँगी फिल्म देख कर ?"

"कोई हर्ज है क्या ?"

"हर्ज तो कोई नहीं है। अच्छा, उन्हें आ जाने दो। वह मना न करेंगे तो चली चलूँगी।"

"अच्छी बात है।"

आध-घंटे के बाद पिता जी आये। उन्होंने कोई अपत्ति नहीं की। माँ और मालती ने जल्दी-जल्दी खाना तैयार किया। फिर वे तैयार हो गईं। सतीश ताँगा ले आया। ताँगे पर सवार होकर माँ, मालती और सतीश कमला थियेटर की ओर चल पड़े।

टिकट के लिये माँ ने रुपये देने चाहे, लेकिन सतीश ने लेना स्वीकार नहीं किया। अपने पैसे से उसने टिकट ख़रीदे। वे जा बैठे दूसरे दर्जे में।

फ़िल्म चलने लगा। मन्दिर के सहन में रामी झाड़ू लगाने आती है। चण्डीदास उसके प्रति कृपा-भाव प्रदर्शित करते हैं रामी निम्नतर श्रेणी की नारी है; किन्तु चण्डीदास का भावुक हृदय यह सामाजिक विभेद स्वीकार नहीं करता। रामी के प्रति उनका आकर्षण बढ़ता जाता है। रामी एक ऐसा रत्न पा गई है जो लोहे को भी खरा कंचन बना देता है। आदान-प्रदान हो जाता है प्रणय का।

फ़िल्म चल रहा है। रात भीग गई है। दुनिया सो रही है। चण्डीदास जाग रहे हैं। गा रहे हैं चण्डीदास—

'तड़पत बीते दिन रैन!'

फ़िल्म चलता जाता है। बसन्त आ गया है वन-उपवन में। चारों ओर सुन्दरतम वन-श्री बिखरी पड़ रही है। पल्लवों और लताओं से लदे हुए एक बृहदाकार वृक्ष के सहारे खड़ी-खड़ी रामी गा रही है—

"बसन्त ऋतु आई आली
फूल खिले डाली डाली—

चलता जा रहा है फ़िल्म। गाँव का ज़मींदार अपने कूट-चक्रों के द्वारा रामी को फँसाने की कोशिश करता है; लेकिन विचलित नहीं होती रामी। दैवयोग से अनायास ही जिस सर्वोच्च शिखर पर वह पहुँच गई है, उससे वह कैसे उतर सकती है। मदांध ज़मींदार प्रतिकार की भावना से प्रेरित हो कर रामी के भाई के झोपड़े में आग लगवा देता है। फिर भी विचलित नहीं होता है रामी।

चलता जा रहा है फ़िल्म। प्रतिकार की भावना चरम सीमा पर पहुँच जाती है। ज़मींदार मन्दिर में जाकर गाँव वालों और चण्डीदास के गुरु, मन्दिर के पुजारी के सामने भेद प्रकट कर देता

है। व्यवस्था दे दी जाती है कि चण्डीदास रामी से कोई मतलब न रखें और प्रायश्चित्त करें। पुजारी जी चण्डीदास को समझा-बुझा कर प्रायश्चित्त करने को राज़ी कर लेते हैं। रामी को सूचना मिलती है।

'चण्डी ठाकुर! क्या तुम प्रायश्चित्त करने जा रहे हो?'

दौड़ती-भागती, चिल्लाती रामी मन्दिर की ओर चली जा रही है। तन-बदन की उसे सुधि नहीं है, लोक-लाज की परवाह नहीं है। चिल्लाती दौड़ी जा रही है वह—"चण्डी ठाकुर! चण्डी ठाकुर!"

मन्दिर में प्रायश्चित्त की क्रिया चल रही है। अभ्यागतों की पंगत जमी हुई है। भात का थाल हाथ में लिये परोसने के लिये खड़े हुए हैं चण्डीदास।

'चण्डी ठाकुर! चंडी ठाकुर! क्या तुम प्रायश्चित्त करने जा रहे हो, चंडी ठाकुर?'

युगों के संचित प्रेम का जैसे धिक्कार है इस चीत्कार में। तूफ़ान की तरह आँधी-बवंडर की तरह आ पहुँचती है रामी। प्रणय अपना हक माँगता है प्रणय से। चण्डीदास के हाथ से भात का थाल छूट पड़ता है। चण्डीदास रामी की ओर बढ़ते हैं। घुटने टेक कर अनुनय-विनय करते हैं पुजारी महोदय। लेकिन अब चण्डीदास के लिये विचलित हो सकना असम्भव है। प्रणय अपना हक माँग रहा है प्रणय से।

झर-झर गिर रहे हैं आँसू मालती की आँखों से। ओह! कैसा करुण, कैसा पावन दृश्य है!

समाज द्वारा लांछित, परित्यक्त, बहिष्कृत, चले जा रहे हैं दो बटोही दुर्गम-पथ पर एक-दूसरे को सहारा देते हुए। एक है चण्डी-

दास, दूसरी है रामी । चले जा रहे हैं वे—चले जा रहे हैं—एक नई दुनिया बसाने के लिये !

'प्रेम है सुन्दर रोग, सखी री—

प्रेम है सुन्दर रोग !'

फ़िल्म समाप्त हो गया । हाल में प्रकाश हो गया । लोग बाहर निकले जा रहे हैं । दूसरी ओर मुख किये मालती आँखें पोंछ रही है । किसी की ओर देख सकने के योग्य वह इस समय नहीं है ।

थियेटर से बाहर निकल कर वे एक ताँगे पर सवार हुये । ताँगा चल पड़ा घर की ओर ।

"बड़ा अच्छा फिल्म था, भैया !"

"इसलिये तो मैंने सोचा कि आप लोगों को दिखला दूँ ।"

"बड़ा अच्छा किया तुम ने ।"

"इस गली से होकर चलो, ताँगे वाले ।"

"इधर से तो बड़ा फेर पड़ जायगा, बाबू जी ।"

"चलो, कुछ पैसे और मिल जायँगे ।"

"जैसी आप की मर्ज़ी ।"

ताँगा उस गली में मुड़ा । गली का काफ़ी हिस्सा पीछे छूट गया ।

"देखिये, अम्मा जी, यही है मेरा घर," एक घर की ओर इशारा करके सतीश ने कहा ।

"अच्छा, यही है तुम्हारा घर ?"

"जी हाँ ।"

"किसी दिन आकर देखूँगी ।"

"ज़रूर आइयेगा ।"

रात का तीसरा पहर है । दुनिया सो रही है; लेकिन मालती

की आँखों में नींद नहीं है। कितनी ही बार चल चुका है वह फ़िल्म उसकी आँखों के सामने। इधर से उधर, उधर से इधर करवटें बदल रही है वह। मस्तिष्क में विचारों का तूफ़ान उठा हुआ है। मन विचित्र, मधुर, कटु पीड़ा से भरा हुआ है। चारों ओर ऋंधकार छाया हुआ है, मार्ग सूझ नहीं रहा है।

'प्रेम है सुन्दर रोग, सखी री,
प्रेम है सुन्दर रोग!'

(४)

रात के दस बजे हैं। सहन में बिछे हुये बिस्तरों पर सब लोग लेटे हुये हैं। मालती आँखें बन्द किये पड़ी है; लेकिन सो नहीं रही है। पिता जी भी जाग गये हैं। माँ ऊँघने लगी हैं।

"मालती की माँ! सोने लगीं क्या?"

"नहीं तो।"

"कई दिन से मेरे मन में एक विचार उठ रहा है।"

"कौन-सा विचार।"

"यही कि अब मालती की शादी कर देनी चाहिये।"

"यह बात तो मैंने आप से बहुत पहले कही थी; लेकिन उस वक्त न जाने क्यों आपको मेरी बात जँची नहीं।"

"उस वक्त मेरा ख्याल यह था कि तालीम पूरी हो जाने के बाद शादी करना ठीक रहेगा; लेकिन अब सोचता हूँ तो मालूम होता है कि मेरा वह ख्याल ठीक नहीं था! हम लोगों की सी हैसियत के लोग अपनी लड़कियों को बहुत दिनों तक क्वाँरी नहीं रख सकते। इधर हम लोगों की बड़ी बदनामी होने लगी है।"

"क्यों न होगी बदनामी? क़ानूनगो साहब की लड़की चन्दो मालती से दो साल छोटी है, लेकिन एक बच्चे की माँ बन चुकी है

वकील साहब की लड़की तारा भी मालती से डेढ़ वर्ष छोटी है और उसका भी ब्याह हो चुका है। वैसा सब लोग करते हैं, वैसा न करने से बदनामी के सिवाय और क्या हाथ लग सकता है?"

"ख़ैर, जो हुआ सो हुआ। कल ही वर की खोज करूँगा और हो सका, तो अगली लग्न में बिटिया की शादी कर दूँगा।"

"बिटिया के लिए सतीश जैसा कोई लड़का खोजो।"

"ऐसा लड़का पा सकना बहुत मुश्किल है। कोशिश करूँगा, मिल जाय तो जानो।"

"कितना अच्छा लड़का है, सतीश! अगर वह ग़ैर-बिरादरी का न होता, तो मैं बड़ी खुशी से मालती को उसे सौंप देती।"

"इससे बढ़ कर क्या बात होती? सतीश जैसा दामाद पाना किसी भी पिता के लिए सौभाग्य की बात होगी।"

अरे यह क्या होने जा रहा है—क्या होने जा रहा है? अब क्या होगा—क्या होगा?

वर की खोज शुरू हो गई दूसरे दिन। और एक पखवारे के बाद दफ़्तर से लौट कर पिता जी ने प्रसन्नता भरे स्वर में कहा—"लो मालती की माँ, बिटिया के लिए योग्य वर मिल गया। एम० ए० में पढ़ता है, देखने-सुनने में अच्छा है, सुशील है और उसके पिता एक सरकारी दफ़्तर में नौकर हैं।"

"बस ठीक है," प्रसन्नता से खिल कर माँ ने कहा—"घर, वर दोनों ठीक हैं, तो और क्या चाहिए। भगवान् को धन्यवाद है।"

"तो बात पक्की कर आऊँ?"

"ज़रूर कर आओ।"

तीन दिन की कोशिश के बाद बात पक्की हो गई। निश्चित हुआ कि शीघ्र ही आने वाली लग्न में विवाह-संस्कार सम्पन्न हो जाय।

पिता जी उत्साह से भर गए। माँ को बड़ी प्रसन्नता हुई। और मालती ? कुछ न पूछिये उसका हाल। इतना घोर दुःख हुआ उसे कि माँ से भी वह अपने आँसू छिपा नहीं सकी। रोते-रोते उसकी आँखें सूज गईं। माँ ने समझा, उसे मायके से बिछुड़ने के ख्याल से इतना दुःख हुआ है। इससे अधिक वह क्या समझतीं ? दुःख तो उन्हें भी हुआ, किन्तु सन्तोष भी कम नहीं हुआ। भले घर की कौन लड़की मायके से बिछुड़ने की बात सोच कर आँसू नहीं बहाती ? ऐसा तो करना ही चाहिए; प्रत्येक भद्र परिवार की प्रत्येक लड़की को।

"न रो, बिटिया, न रो," आँसू बहाती, अवरुद्ध कण्ठ से कह रही हैं माँ—"जब तक जिऊँगी तुझे आँखों से ओट न होने दूँगी, हमेशा अपने पास रखूँगी। दामाद को भी यहीं रहने को राज़ी कर लूँगी।"

यह सान्त्वना है या उपहास ? ओह ! ऐसी विकट बिडम्बना ! हाय रे जला भाग्य ! फफक-फफक कर रोने लगती है मालती ! रो ले, मालती, रो ले। कोई समझे या न समझे; रो ले तू जी भर कर।

बहुत दिनों के बाद सतीश आया है। हाल की बातों की उसे कोई ख़बर नहीं है। मुस्करा कर माँ कहती हैं—"एक खुशख़बरी सुनोगे भैया ?"

सतीश का माथा ठनक उठता है। कौन-सी खुशख़बरी है ?

"सुनूँगा क्यों नहीं ?" शङ्कित स्वर में वह कहता है—"सुनाइये।"

"बिटिया की शादी होने जा रही है। बात पक्की हो गई है। घर, वर दोनों अच्छे हैं। लड़का एम० ए० में पढ़ता है, देखने-सुनने

में अच्छा है, सुशील है और उसके पिता किसी सरकारी दफ़्तर में नौकर हैं। इसी लग्न में शादी हो जायगी।"

सतीश का सिर चकरा रहा है। तबीयत क़ाबू से बाहर हुई जा रही है। ओह! ऐसी खुशख़बरी!

"बड़ी ख़ुशी की बात है," कितनी मुश्किल से वह कह पाया।

माँ कहती जा रही हैं न जाने क्या-क्या। कुछ सुनाई नहीं दे रहा है। सम्पूर्ण शक्ति लगा कर वह सिर हिलाता जा रहा है। ओह! ऐसी खुशख़बरी। जैसे उसके दिल है ही नहीं, जैसे वह निरा पत्थर है। वाह री जीवन की विडम्बना! कौन कहे माँ से कि आख़िर वह भी एक मनुष्य ही तो है? कौन कहे कट्टरतावादी समाज से कि आख़िर उसके अन्दर भी तो एक जीता-जागता दिल है जो जड़ नहीं, जो अनुभूतियों के प्रभाव से परे नहीं?

कल तिलक जायगा। सारा प्रबन्ध हो चुका है। सारी आवश्यक चीज़ें बाज़ार से आ चुकी हैं। कल एक और मुहर लग जायगी—प्राण-दण्ड की आज्ञा पर। ग्यारह, बारह, एक—बीतता जा रहा है घंटे पर घंटा। निकट आता जा रहा है भयानक कल। अत्यधिक भयावनी हो गई है काली रात। बीहड़ वन है। कहीं किसी ओर कुछ सुनाई नहीं दे रहा है। मार्ग का पता नहीं है। ऐ गगन-मण्डल में चमकते हुए नक्षत्रो! तुम्हीं निकाल दो कोई मार्ग। तुम्हीं सुझा दो कोई उपाय। दादा, दादा! तुम स्वर्ग में हो, और वहाँ बैठे-बैठे शायद सब कुछ देख रहे हो। तरस खाओ अपनी इस प्यारी, छोटी बहिन पर और किसी से उसकी थोड़ी सिफ़ारिश कर दो। यही तो है वह कमरा जिसमें एक दिन दादा चिर-निद्रा में निमग्न हो गए थे। काश! वह भी निमग्न हो गई होती उन्हीं के

सबह चिर-निद्रा में ! मालती की आँखों से झर-झर गिर रहे हैं आँसू।

अभी बहुत तड़का है। रजनी की काली चादर से प्रातःकाल की सफ़ेदी धीरे-धीरे निकल रही है। सतीश के घर के सदर दरवाज़े की जंज़ीर सहसा ज़ोर से खड़खड़ा उठती है।

"सोहन !"

"जी !"

"जाकर देख तो कौन है"

"झाड़ू लगाना बन्द करके सेवक सोहन तेज़ी से नीचे चला जाता है।

दरवाज़ा खुलता है घर का। सामने एक भद्र नवयुवती खड़ी हुई है, हाथ में चमड़े का बड़ा बक्स लिये हुये।

"सतीश बाबू हैं।

"जी, हैं तो।

"क्या कर रहे हैं ?"

"पढ़ रहे हैं।"

"कहाँ हैं ?"

"ऊपर।"

नवयुवती घर में प्रवेश करती है, तेज़ी से सहन पार करती है और खट-खट ऊपर चढ़ जाती है।

"अरे तुम हो !"

"जी हाँ, मैं ही हूँ।"

"तुम यहाँ...कैसे आ गईं ?"

"ताँगे पर सवार हो कर।"

"मेरा प्रश्न यह था, मालती, कि...तुम...यहाँ क्यों आई हो ?"

"सतीश बाबू ! नारी जब किसी पुरुष को प्रकट या अप्रकट रूप से वरण कर लेती है, तो उसे छोड़कर वह किसी दूसरे की नहीं हो सकती। उसकी इच्छा के विरुद्ध वह बल-पूर्वक किसी दूसरे को अवश्य सौंप दी जा सकती है; लेकिन इस कृत्य से किसी का कल्याण नहीं हो सकता।"

"यह तो बिल्कुल ठीक है, मालती, लेकिन क्या तुमने यह भी सोचा है कि हम दोनों के लिये यह कितने बड़े कलंक की बात होगी ?"

"कलंक से डरते हैं आप ?"

"नहीं तो।"

"तब ?"

सतीश ख़ामोश खड़ा है। उसके मस्तिष्क में विचार ज़ोरों से चल रहे हैं।

"ताँगा बाहर खड़ा हुआ है। अगर आप चाहें, तो मैं वापस जा सकती हूँ।"

"कहाँ जाओगी-घर ?"

"नहीं।"

"तब कहाँ जाओगी ?"

"गंगा की विशाल गोद में मेरे लिये बहुत काफ़ी जगह है।"

एक क्षण रुक कर सतीश कमरे से बाहर जाने लगता है।

"कहाँ जा रहे हैं आप ?"

"ताँगे वाले को विदा करने।"

मालती संतोष की साँस लेती है।

दिन काफ़ी चढ़ आया है। सेवक सोहन रसोई घर में तरकारी बना रहा है। दोनों सतीश और मालती ऊपर के कमरे में

बैठे हुए है। दोनों मौन हैं। दोनों विकल विचारों में व्यस्त हैं।

सहसा एक बार फिर ज़ोर से घर का सदर दरवाज़ा खड़खड़ा उठता है। दोनों दहल उठते हैं। सतीश उठ कर, कमरे से निकल कर, जा रहा है नीचे।

"सतीश !"

"जी।"

"मालती कहाँ है ?"

"ऊपर।"

"उसे तुम भगा लाये हो ?"

सतीश ख़ामोश है। वह क्या उत्तर दे इस प्रश्न का ? 'हाँ' कहना सत्य नहीं है, और 'नहीं' कहने में उसका अपमान है, जिसके अपमान की बात वह स्वप्न में नहीं सोच सकता।

"लुच्चा, शोहदा, आवारा ! मैं नहीं जानता था कि तू साँप है, जो उस हाथ को डस लेता है जिससे दूध पाता है ! खून पी लूँगा तेरा।" छुरी चमक उठती है पिता जी के हाथ में।

"अरे ठहरिये, ठहरिये !" तेज़ी से भागी जा रही है मालती उन लोगों की ओर।

लेकिन छुरी घुस जाती है सतीश के सीने में। कटे हुये वृक्ष की तरह सतीश दालान के फ़र्श पर गिर पड़ता है।

बेहोश पड़ा है सतीश। विचित्र शान्ति व्यक्त है उसके चेहरे पर। खून का फ़व्वारा उसके सीने से छूट रहा है। पिता जी चुपचाप खड़े हैं। खून से सनी छुरी उनके सामने फ़र्श पर पड़ी हँस रही है। मालती आँचल फाड़ कर जल में भिगो रही है।

"अरे सोहन, सोहन ! दौड़ जा, किसी डाक्टर को बुला ला जल्दी जा भाई !"

सोहन तेज़ी से घर के बाहर निकल जाता है।

जल से भीगे हुये साड़ी के टुकड़े से सतीश के घाव को दाबे हुये मालती बैठी हुई है। आँसू की धारें बह रही हैं उसकी आँखों से। पत्थर की मूर्त्ति बने खड़े हैं पिता जी। खून से सनी छुरी फ़र्श पर पड़ी हँस रही है।

"आप ने यह क्या कर डाला, बाबू जी! इनका कोई दोष नहीं था। मैं तो खुद अपने मन से यहाँ आई थी।"

लेकिन पिता जी कोई उत्तर नहीं देते।

अरे यह तो भीड़ की भीड़ घर के अन्दर चली आ रही है। पुलिस वाले भी हैं, डाक्टर भी है। कोलाहल मच रहा है।

एम्बुलैंस-कार आ गई है। प्राथमिक उपचार हो चुका है। सतीश को स्ट्रेचर पर लाद कर घर से बाहर लिये जा रहे हैं। मालती भी जा रही है साथ-साथ।

स्ट्रेचर एम्बुलेंस-कार पर सहारे से लाद दिया जाता है। मालती भी कार पर सवार हो जाती है। कोई उसे रोक नहीं पाता। कार चल पड़ती है अस्पताल की ओर।

दिन बीत चुका है। रात भी बीती जा रही है। अस्पताल के जनरल वार्ड में अन्य रोगियों के बीच सतीश रोग-शय्या पर बेहोश पड़ा है। घाव में टाँके लगा दिये गये हैं, मरहम-पट्टी कर दी गई है और कितने ही इंजेक्शन दिये जा चुके हैं, लेकिन सतीश को अभी तक एक बार भी होश नहीं आ सका है। वह तो जीवन और मृत्यु के बीच झूल रहा है। मालती रोग-शय्या के समीप एक कुरसी पर बैठी है। कोई उसे उस स्थान से हटा नहीं सका। कोई वहाँ से उसे हटा नहीं सकेगा।

सवेरा हो गया है। बड़े डाक्टर सतीश की परीक्षा करने आये

हैं। मालती उनके पैरों से लिपट जाती है।

"किसी तरह इन्हें बचा लीजिये, डाक्टर साहब! बचा लीजिये" आँसू बहाती हुई मालती कह रही है—"कृपा कीजिये। जन्म भर एहसान मानूँगी।"

"घबराओ नहीं, घबराओ नहीं। कोशिश की जा रही है, उम्मीद है कि बच जायँगे।"

शाम हो गई है। जेल की एक कोठरी है। कितने ही विचाराधीन कैदी उस कोठरी में बैठे हुये हैं। पिता जी भी एक ओर बैठे हुये हैं। अन्य कैदी बात-चीत कर रहे है; लेकिन पिता जी मौन हैं। किसी से बात कर सकने की मनः स्थिति में वह नहीं हैं। प्रधान वार्डर कोठरी का दरवाज़ा खोलता है।

"बाबू शिवनारायण!"

"हाँ।" पिता जी उठ खड़े होते हैं।

"बाहर आ जाइये।"

पिता जी बाहर निकलते हैं।

"जेलर साहब आपको बुला रहे हैं।"

प्रधान वार्डर के साथ पिता जी जेलर महोदय के सामने उपस्थित होते हैं।

"बाबू शिवनारायण!"

"जी हाँ।"

"सरकार अब आपके ऊपर मुक़द्दमा नहीं चलायगी।"

"क्यों?"

"सतीश चन्द्र ने अपने आखिरी बयान में कहा है कि आपने उनकी हत्या करने की कोशिश नहीं की। उनका कहना है कि जब आप उनके घर पहुँचे, तो आप बड़े क्रोध में थे। इस लिए जब वह

आपके सामने गये, तो वह अपने हाथ में आत्म-रक्षा के लिए छुरी लिए हुए थे। आप दोनों गुथ गए। गिरते समय इत्तिफ़ाक़ से उनकी छुरी उनके सीने में लग गई।"

पिता जी को न जाने कैसा लग रहा है। उनकी आँखों में आँसू तेज़ी से उमड़े आ रहे हैं।

"अब आप आज़ाद हैं, जहाँ चाहें जा सकते हैं।"

झर-झर बरस रहे हैं आँसू पिता जी की आँखों से। सब कुछ धुँधला-धुँधला-सा दिखाई दे रहा है। वह किसी तरह चले जा रहे हैं जेल से बाहर।

साईं जिसकी रक्षा करना चाहे, उसे कौन मार सकता है? मौत के मुख से निकल आया है सतीश। डाक्टरों की राय है कि अब ख़तरे का समय बीत गया है। ऐसी सहन-शक्ति बहुत कम रोगियों में उन्हें देखने को मिली है। उनकी दृष्टि में बड़ा विचित्र केस है यह। बड़ा आश्चर्य है उन लोगों को।

दिन का तीसरा पहर है। सतीश होश में है। मालती रोग-शय्या के समीप डटी हुई है। माँ सतीश को देखने आई हैं। पिता जी भी उनके पीछे खड़े हुए हैं—झेंपते से।

"भैया सतीश!"

"जी।"

"कैसी तबियत है, बेटा?"

"काफ़ी अच्छी है।"

"हमें माफ़ करो, भैया! बड़ी भूल हुई हम लोगों से।"

"यह आप क्या कह रही हैं अम्माँ! जो कुछ हुआ अच्छा ही हुआ। मैं तो इस विश्वास का क़ायल हूँ कि हर बात में ईश्वर की

च्छा छिपी रहती है और बुरे काम में भी कोई न कोई अच्छाई मौजूद रहती है।"

माँ की आँखों से आँसू बह रहे हैं। पिता जी की आँखों से भी आँसू जारी हैं। मालती भी आँखें पोंछ रही है।

एक मास बीत चुका है। सतीश का ज़ख्म क़रीब-क़रीब भर गया है। डाक्टरों की अनुमति पाकर मालती सतीश को अपने घर लिवा लाई है। पिता जी अब कट्टरवाद के क़ायल नहीं रहे। वह पक्के सुधारवादी बन गये हैं।

वही ऊपर वाला कमरा है—वही जिसमें दादा रहते थे। वह विकट शून्य फिर खिसक गया है वहाँ से। सारा कमरा चमक दमक रहा है, सारी चीज़ें प्रसन्न दिख रही हैं। दादा का चित्र भी जैसे मुस्करा रहा है। सतीश एक आराम-कुरसी पर लेटा हुआ है मालती उसके समीप मौजूद है। दोनों बड़े प्रसन्न हैं। माँ कमरे में प्रवेश करती हैं।

"भैया सतीश!"

"जी।"

"तीर्थ-यात्रा करना भी हिन्दुओं का एक प्रधान कर्त्तव्य है। इसलिये हमने तीर्थ-यात्रा करने का निश्चय कर लिया है। बाबू जी ने छुट्टी के लिए दरख्वास्त दी थी। छुट्टी मंजूर हो गई है। अब हम शीघ्र ही रवाना हो जायँगे। हमारी इच्छा है कि जाने से पहले तुम दोनों को एक कर दें।"

"जैसी आपकी मर्ज़ी।"—सिर झुका कर मुसकरा कर सतीश उत्तर देता है।

मालती मुड़ कर दीवार की ओर ताक रही है।

"खुश रहो, बेटा जीते रहो! जाकर उनसे कहे देती हूँ कि

आवश्यक प्रबन्ध करें।"—माँ चली जाती हैं कमरे से बाहर।

असीम आनन्द उमड़ रहा है [illegible]तीश के हृदय में। अपरिमि[illegible] आनन्द उमड़ रहा है मालती [illegible]य में भी।

"मालती!"

"जी।"

"इधर आओ।"

वह जाती है धीरे-धीरे उसके समीप।

"बन्दर मदारी की डोर में बँधने को तैयार है!" सतीश मुसकराकर कहता है।

"मदारी को भी कोई आपत्ति नहीं है," मालती हँस कर उत्तर देती है।

"लेकिन बन्दर बड़ा नटखट है!"

"कोई हर्ज नहीं, मदारी की डोर में बँध जाने पर नटखट से नटखट बन्दर भी सीधे पड़ जाते हैं।"

सतीश मालती को अपनी ओर खींच लेता है।

"अरे, रहने दो, रहने दो। कहीं घाव में ठेस न लग जाय।"

लेकिन सतीश को परवाह कहाँ है उस घाव की।

'नाचो, नाचो, प्यारे मन के मोर!'
